रामचरित मानस में शिव त

राम किंकर उपाध्याय

H
.1852 Up 1 R

294.1852
उप 1 R

राम चरित मानस

में

शिव तत्त्व

रामकिंकर उपाध्याय

प्रकाशक--
श्री तुलसी साहित्य परिषद्
४२/१, स्ट्रैंड रोड, कलकत्ता-७

आवरण शिल्पी
जगदीश जोशी

34173
5.3.70

प्रथम संस्करण
दीपावली, १९५९ 1959

H
294.1852
UP1R

Library IIAS, Shimla
H 294.1852 Up 1 R
00034173

मुद्रक--
आर० चटर्जी
बिनानी प्रिण्टर्स प्रा० लि०,
३८, स्ट्राण्ड रोड, कलकत्ता-१.

मूल्य : १.२५ न० पै०

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक आज से एक वर्ष पूर्व देहली में लिखी गई थी। प्रकाशन का विचार चल ही रहा था कि मेरे कलकत्ता प्रवास-काल में श्री बैजनाथजी तापड़िया तथा श्री प्यारेलालजी शर्मा मुझसे मिले। उन्होंने नवगठित संस्था 'तुलसी-साहित्य-परिषद्' के लिए सहयोग माँगा। साधारणतया संस्थाओं की ओर मेरा आकर्षण कम ही होता है। पर मुझे तापड़ियाजी और शर्माजी का उत्साह देख कर लगा कि यह संस्था तुलसी-साहित्य पर कुछ ठोस कार्य कर सकती है। अतः जब तापड़ियाजी ने मुझसे 'मानस में शिव-तत्त्व' के प्रकाशन के लिए अनुरोध किया, तब मैंने इसके लिए सहर्ष अनुमति दे दी। उनके ही उत्साह का प्रतिफल इसका प्रकाशन है। देश में फैले हुए हजारों श्रोताओं की यह पुरानी माँग थी कि मैं कोई पुस्तक लिखूं और आज 'तुलसी-साहित्य-परिषद्' की ओर से यह आकांक्षा पूर्ण होने जा रही है। इसके लिए मैं संस्था के कर्णधारों को धन्यवाद देता हूँ।

मैं श्रीमती शीला कोचर के प्रति भी कृतज्ञ हूँ क्योंकि पुस्तक प्रणयन के लिए जिस वातावरण की अपेक्षा थी वह उन्हों ने सुलभ किया। सम्पादन में भी मुख्य भाग उन्हीं का है।

—रामकिंकर.

प्रकाशक का नम्र-निवेदन

कलकत्ता व्यवसायियों की नगरी है। लोगों को अपने व्यवसाय से ही अवकाश नहीं मिल पाता, ऐसी स्थिति में साहित्य की ओर यहाँ कितने लोगों की रुचि हो सकती है यह कहना कठिन है। फिर भी कतिपय मित्रों के उत्साह से संवत् २०१५ में तुलसी साहित्य परिषद् की स्थापना हुई। परिषद् का प्रथम समारोह चैत्र नवरात्र सं० २०१६ में हुआ। इस पुस्तक के विद्वान लेखक श्री रामकिङ्करजी उपाध्याय ने भी समारोह में भाग लिया। उपाध्यायजी से परिषद् के उद्देश्य एवं प्रगति आदि के सम्बन्ध में चर्चा हुई। परिषद् द्वारा तुलसी साहित्य पर उत्तमोत्तम ग्रन्थों के प्रकाशन का विचार उनके सामने रखा गया।

आदरणीय उपाध्यायजी की उदारता का ही फल है जो तुलसी-साहित्य परिषद् की ओर से 'रामचरित मानस में शिवतत्त्व' पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। रामचरित मानस पर उपाध्यायजी द्वारा हुए प्रवचन का आनन्द जिन श्रोताओं ने उठाया है, उन्हें यह जानकर प्रसन्नता होगी कि परिषद् की ओर से निकट भविष्य में उनके कई ग्रन्थ प्रकाशित किये जायेंगे। जिन लोगों को उनके प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त न हो सका वे उनकी लेखनी द्वारा प्रसूत साहित्य का आनन्द उठा सकेंगे। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि श्री उपाध्यायजी की वाणी में जो सरलता, माधुर्य और साहित्य-रस है उनकी लेखनी में भी वही सब है। श्री उपाध्यायजी ने निःस्वार्थ भाव से परिषद् को यह पुस्तक प्रकाशनार्थ दी है। परिषद् इसके लिए आभारी है और आशा करती है, भविष्य में भी उनका आशीर्वाद प्राप्त होता रहेगा। हम उन सहयोगियों को धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इसके प्रकाशन में हमारी सहायता की।

अन्त में हम अपने पाठकों से नम्रतापूर्वक यह कह देना चाहते हैं कि प्रकाशन-क्षेत्र में यह हमारा प्रथम प्रयास है। इसमें त्रुटियाँ हो सकती हैं। फिर भी गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में :—

राम भगति भूषित जियँ जानी।
सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी ।।

बैजनाथ तापड़िया
श्री तुलसी साहित्य परिषद
४२/१, स्ट्रैंड रोड, कलकत्ता-७

श्री रामकिंकर उपाध्याय

।। श्री रामः शरणम् ।।

मानस में शिवतत्त्व

विविधता में एकता

एक ही तत्त्व को विविध देवताओं के रूप में स्वीकार करना हिन्दू उपासना पद्धति की एक विशिष्टता है। वाह्य दृष्टि से यह बड़ी ही अटपटी पद्धति है जिसे समझना विदेशी विद्वानों के लिए कठिन हो जाता है। भारत में भी इस पद्धति का जो परिणाम बहुधा देखने को मिला वह भी दुर्भाग्यवश उनकी धारणाओं का समर्थन करनेवाला है। प्रत्येक वर्ग के एक विशिष्ट भगवान और अन्य वर्गों के भगवान से तुलना करते हुए अपने भगवान की श्रेष्ठता का दावा, संघर्ष, एक दूसरे की निन्दा, जैसे फलितार्थों को देख कर बहुतों की उसमें अरुचि हो जाना स्वाभाविक है।

तो फिर क्या हिन्दू उपासना पद्धति एक भ्रामक, रूढ़िग्रस्त और अविवेक युक्त वस्तु है? विचारपूर्वक भारतीय वाङमय का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उपासना पद्धति के पीछे गम्भीर दर्शन है। स्वयं में उसका उद्देश्य महान है। भले ही विविध कारणों से अधिकांश लोगों ने उसके तात्त्विक रूप को न समझा हो और उपासना के माध्यम से ही उन्होंने अपने अहं की तुष्टि की हो और उसे संघर्ष का कारण बना लिया हो।

फिर भी समय-समय पर ऐसे महापुरुष हुए जिन्होंने अनेकता में छिपी हुई एकता और अनेकता का तात्त्विक उद्देश्य समाज के समक्ष रख कर उसका उद्बोधन करना चाहा। ऐसे महापुरुषों में ही गोस्वामीजी हैं, जिन्होंने

किसी एक सम्प्रदाय का समर्थन न करके उपासना का सार्वभौम रूप समाज के समक्ष रखने की चेष्टा की। तत्कालीन परिस्थितियों में शैव और वैष्णव संघर्ष अत्यन्त उग्रता पर थे। गोस्वामीजी ने एक दूसरे को अभिन्न बता कर उस संघर्ष को समाप्त करने की चेष्टा की। पर वह प्रयास केवल वाह्य दृष्टि से न होकर आन्तरिक और विचारमूलक भी है। समालोचकों ने गोस्वामीजी के इस गुण की वहुधा सराहना की है। पर इसके समर्थन में उनके एकता के वाह्य प्रयासों को ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

गोस्वामीजी ने इस एकता के समर्थन में एक जिस सशक्त और विचारपूर्ण प्रणाली का आश्रय लिया है, इस पुस्तक में उसी पक्ष को प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

मानस के प्रथम सोपान में भरद्वाज के द्वारा राम-कथा के विषय में प्रश्न किये जाने पर वक्ता याज्ञवल्क्य प्रारम्भ में उन्हें भगवान शिव की कथा सुनाते हैं। कथा श्रवण के पश्चात् भरद्वाज की जो भावपूर्ण स्थिति याज्ञवल्क्य ने देखी उससे वे अत्यधिक प्रभावित होते हैं और तब उन्होंने बताया कि वे 'शिव-कथा' सुनाकर यह देखना चाहते थे कि भरद्वाज 'राम-कथा श्रवण' के अधिकारी हैं या नहीं। "क्योंकि जिनके हृदय में शिव के प्रति भक्ति नहीं है वे राम-भक्त हो ही नहीं सकते। छल-रहित होकर शिव के चरणों में स्नेह राम-भक्त का लक्षण है।" ऐसा मत उन्होंने प्रतिपादित किया।

शिव पद कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहिं ते सपनेहु न सोहाहीं॥
बिनु छल विश्वनाथ पद नेहू। राम भक्त कर लच्छन एहू॥
प्रथमहिं मैं कहि शिव चरित, बूझा मरम तुम्हार।
सुचि सेवक तुम राम के, रहित समस्त विकार॥

पर, प्रश्न उठता है, यह क्यों? एक की भक्ति का दूसरे की भक्ति से क्या सम्वन्ध है? यदि दोनों अभिन्न हैं, तब फिर इन दो रूपों के पार्थक्य की क्या आवश्यकता है? बिना किसी विचारमूलक मत के एकता का यह प्रयास भी ऊपर से लादा गया और प्रभावहीन हो जायगा।

समस्त सृष्टि के मूल में एक ही तत्त्व के होने पर भी अभिव्यक्ति की स्थिति में वे एक दूसरे से भिन्न ही नहीं परस्पर विरोधी भी जान पड़ते हैं। प्रश्न यह है कि उस तत्त्व को हम किस रूप में स्वीकार करें? 'व्यक्त या अव्यक्त'? अव्यक्त के रूप में स्वीकृति ही निर्गुण निराकार के रूप में ईश्वर की मान्यता है। पर 'अव्यक्त' को समझना अत्यन्त कठिन

है। उसका प्रतिपादन तो 'नेति' के रूप में ही किया जा सकता है। पर व्यक्ति 'नेति' से सन्तुष्ट नहीं हो पाता। 'नेति' के रूप में ईश्वर का प्रतिपादन अधिक सरल है। क्योंकि उसके विषय में 'अनिर्वचनीय' कह कर अनेक प्रश्नों से मुक्त हुआ जा सकता है। नाम रूप से रहित ईश्वर स्वभावतः हमारी आलोचना की सीमा से सर्वदा दूर रहता है। पर व्यक्ति तो उसे भी 'व्यक्त' रूप में ही देखना चाहता है। ईश्वर को व्यक्त रूप में स्वीकार करते ही अनेक प्रश्नों से वह घिर जाता है क्योंकि फिर उसमें नाम रूप और क्रिया सभी को स्वीकार करना पड़ेगा। वह आलोचना का पात्र भी बन जाता है। पर 'अव्यक्त' को 'व्यक्त' न मानना भी अपने आप में सुविधाजनक भले हो पूर्ण नहीं जान पड़ता। 'अव्यक्त' से सृष्टि का व्यक्तीकरण यदि संभव है तो वह स्वयं क्यों नहीं व्यक्त हो सकता? अतः मानस में उसे अव्यक्त (निर्गुण, निराकार) और व्यक्त (सगुण, साकार) दोनों ही रूपों में स्वीकार किया गया।

उसे 'व्यक्त' स्वीकार करने पर यह प्रश्न उठता है कि वह स्वयं को किस रूप में व्यक्त करता है? यहीं पर एक विशिष्ट रूप में उसे व्यक्त स्वीकार करनेवालों का सिद्धान्त अविचारमूलक और दुराग्रह युक्त लगता है। 'अव्यक्त' यदि 'व्यक्त' होता है तो उसे किसी सीमा में बाँधना संभव नहीं है कि वह केवल एक ही रूप ग्रहण करे। अव्यक्त अनन्त रूपों में अपने को अभिव्यक्त कर सकता है, अतः उपासना की दृष्टि से हम उसे चाहे जिस रूप में स्वीकार कर सकते हैं। पर उस स्वीकृति के साथ उपासक के उद्देश्य-सिद्धि का समन्वय भी होना चाहिए। जब हम वस्तु को व्यक्त मानेंगे तो उसमें विशिष्ट गुण की कल्पना भी करनी होगी। इसकी विशिष्टताओं को दृष्टिगत रखते हुए उसके अलग अलग नाम और रूप स्वीकार किये जाते हैं।

सृष्टि के साथ ही प्रारम्भ में मूल रूप में उसके तीन विभाजन कर सकते हैं। सृष्टि का निर्माण, उसकी स्थिति और उसका विनाश। यह तीनों ईश्वर द्वारा ही सम्पन्न हो रहा है, अतः उसे त्रिविध रूप में स्वीकार किया गया। सृष्टि निर्माता के रूप में ब्रह्मा, रक्षक के रूप में विष्णु और संहारक के रूप में शिव। एक रक्षक है और दूसरा संहारक, ऐसा मान कर चलें तो विरोध स्वाभाविक है। विष्णु भक्त कहेगा—मेरा ईश्वर उदार है, कोमल है, रक्षा करता है, अतः उसी की पूजा-आराधना उचित है। शिव-भक्त कह सकता है—जो संहार की शक्ति रखता है, वह महाकाल ही सबसे बड़ा है, अतः उसकी उपासना ही उचित है। अन्तःकरण में जिस वस्तु

के प्रति महत्त्व बुद्धि होती है उसी विशिष्ट गुणयुक्त ईश्वर की आराधना स्वाभाविक है। फिर भी ईश्वर अनेक नहीं हो सकता अतः यदि ऐसा कहें कि वही पालक है और वही संहारक, तब स्पष्ट हो जायेगा कि एक ही के द्वारा सम्पन्न होने से पालन और संहार परस्पर विरोधी क्रिया जान पड़ने पर भी एक दूसरे की पूरक हैं।

उपासना-पद्धति मानवीय मन की रुचि के अनुकूल साधना-पद्धति को स्वीकार करती है, क्योंकि व्यक्ति के लिए उसमें तन्मय होना सरल है। इस दृष्टि से साधक किसी विशिष्ट नाम रूप में ईश्वर को अपना आराध्य चुन सकता है। पर इसका यह तात्पर्य तो नहीं हो सकता कि एक व्यक्ति को आप एक विशेष वेश-भूषा में आदर दें और वस्त्र परिवर्तन मात्र कर लेने पर उसी के विरोधी बन कर उस पर प्रहार करने लगें। यह तो अविवेक की पराकाष्ठा है।

गोस्वामीजी ने 'शिव' और 'राम' की एकता का प्रतिपादन करते हुए वाह्य एकता के तुलनात्मक संकेत दिए ही हैं पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करते हुए यह स्पष्ट कर देते हैं कि बिना 'शिव तत्त्व' की कृपा प्राप्त किए कोई 'राम तत्त्व' को समझ ही नहीं सकता। जब मैं 'तत्त्व' शब्द का प्रयोग करता हूँ, तब इसका अभिप्राय है कि वस्त्र या वेश-भूषा व्यक्ति नहीं है। इसी प्रकार भगवान शिव का वाह्य रूप तो उनका वेषमात्र है। किसी को सन्तुष्ट करने का उपाय केवल उसके वाह्य वेष की आराधना करना मात्र नहीं है, उसकी रुचि के अनुकूल कार्य करना है। दुर्भाग्यवश साधारण जन-समाज में देव-पूजन का अभिप्राय प्रतिमा या चित्र मात्र का पूजन ले लिया गया है। उस देवता की वाह्य पूजा के साथ आवश्यकता है अन्तरङ्ग पूजन की और इसके लिए आवश्यक है कि हम देवता का तात्त्विक रूप भी समझ लें। मानस की विभिन्न कथाओं से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। जैसे—"शंकर की भक्ति के बिना राम-भक्ति प्राप्त करना सम्भव नहीं है।" यह मत मानस में बार-बार प्रतिपादित किया गया। जिसकी घोषणा स्वयं भगवान राम अपने पुरवासियों से बड़े आग्रह भरे शब्दों में करते हैं:—

औरउ एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि।
शंकर भगति बिना नर, भगति न पावइ मोरि।।

पर इस सिद्धान्त के साथ कुछ असंगतियाँ भी दिखाई देती हैं। लक्ष्मण और रावण का चरित्र इस सिद्धान्त के प्रतिकूल जान पड़ता है। लक्ष्मण को शिव-भक्त के रूप में चित्रित करना कठिन है। यदा-कदा वे शिव का नाम भी लेते हैं तो वह चुनौती के रूप में ही होता है।

जौं सहाय कर शंकर आई। तौ मारउँ रण राम दोहाई।।
जौं सत शंकर करहिं सहाई। तदपि हतौं रघुबीर दोहाई।।

दूसरी ओर रावण 'शिव भक्त' है। नित्य शिव की आराधना करने वाला। अपना शिर भी काटकर रुद्र को अर्पित कर देने वाला। पर लक्ष्मण राम के प्रिय हैं और रावण राम का विरोधी। क्यों? इस असंगति का परिहार शिव के तात्विक स्वरूप को दृष्टिगत रख कर विचार करने पर ही हो सकता है।

जिज्ञासा

गोस्वामीजी का 'शिवभक्ति' से अभिप्राय शिव की केवल वाह्य पूजा से नहीं अपितु शिवतत्त्व की वास्तविक आराधना से है। गोस्वामीजी वन्दना प्रसंग में शिव सम्बन्धी अपनी धारणा को स्पष्ट कर देते हैं। वे पार्वती और शंकर को श्रद्धा और विश्वास का स्वरूप बताते हैं—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्।।

इसीलिए जहाँ एक ओर वे यह कहते हैं कि बिना शिव कृपा के राम भक्ति नहीं प्राप्त हो सकती, वहीं उन्होंने अन्यत्र लिखा है कि बिना विश्वास के भक्ति नहीं हो सकती।

बिनु विश्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।

यह वाक्य जो परस्पर अलग-अलग सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए जान पड़ते हैं, उनमें एकत्व दिखाई देने लगता है। हम शिव और विश्वास को एक ही तत्व के दो नाम के रूप में समझ लेते हैं। विश्वास ही भक्ति का आधार है।

पर 'विश्वास' का तात्पर्य क्या है? विश्वास के सम्बन्ध में जो धारणा प्रचलित है; वह तो ऐसी है; जैसे विश्वास वह कन्दरा है, जिसमें हम अपनी सारी वास्तविक अवास्तविक मान्यताओं को छिपा कर उन्हें सुरक्षित रख सकते हैं। वुद्धि या तर्क से बचने के लिए 'विश्वास' शब्द का ढाल के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। इसीलिए विश्वास के साथ एक शब्द जुड़ गया है 'अन्ध विश्वास' और इसीलिए बुद्धिवादी विश्वास को एक हेय और नासमझों के उपयुक्त मानता है। पर, मानस मन्थन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामीजी को विश्वास की यह व्याख्या स्वीकार नहीं है। क्योंकि उन्होंने मानस में जिस 'विश्वास' का वर्णन किया है, वह अन्धा नहीं नेत्रवाला है और द्विनयन ही नहीं त्रिनयन है। साधारण व्यक्ति के लिए सब से विश्वस्त प्रमाण 'नेत्र' है। अपनी दो आँखों पर उसे सबसे अधिक विश्वास

है। किन्तु इन नेत्रों की शक्ति सीमित ही है। इन्हें धोखा भी कम नहीं होता। अतः हम नेत्रों पर भरोसा करके अपने को अन्धत्व के कलंक से भले ही बचा लें किन्तु बहुधा बुद्धिमानी का दावा करने वाले अन्धत्व का कार्य करते देखे जाते हैं। विश्वास का अभिप्राय दो नेत्रों को मिटा कर अन्ध बन जाना नहीं अपितु तृतीय नेत्र प्राप्त करना है। यही तृतीय नेत्र सच्चाई की कसौटी है। अवास्तविकता उसके सामने ठहर नहीं सकती, क्योंकि उसमें प्रलय की क्षमता है। उसमें ज्वाला है जो असत् को मिटा कर क्षण भर में नष्ट कर देती है। पर, सत् का दर्शन करके वह स्वयं रस में डूब जाती है। इसीलिए मानस के 'शिव' के तृतीय नेत्र के समक्ष 'राम' और 'काम' दोनों को लाया जाता है—

काम :—तब शिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा ।।
राम :—शंकर राम रूप अनुरागे। नयन पंचदश अति प्रिय लागे ।।

हमारे दोनों स्थूल नेत्र बाह्य व्यवहार के लिए उपयोगी और प्रामाणिक हो सकते हैं किन्तु इसके परे भी बहुत कुछ ऐसा है, जिसे परखना और देखना तृतीय—ज्ञान नेत्र के बिना सम्भव नहीं। मानस में जो विश्वास है, वह भली प्रकार जान लेने का परिणाम है; न कि असमर्थता का। साधारण अर्थों में विश्वास लाचारी का द्योतक है। जिसे हम समझने में असमर्थ पाते हैं, उसे मान लेते हैं। यह विश्वास वास्तविक कभी नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ संशय का समूल नाश नहीं हुआ है, वह लाचारी से सुषुप्त हो जाता है। अवसर आते ही उसका पुनः उत्थित होना स्वाभाविक है। इस विश्वास में वह पराधीनता है जो अवसर पाते ही विरोध की प्रेरणा देती है। किन्तु वास्तविक विश्वास उस ज्ञान का परिणाम है, जिसके बाद इतनी सुदृढ़ आस्था का उदय होता है, जिसमें कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। इसी अर्थ में वहाँ ज्ञान का अभाव जैसा जान पड़ता है, पर मूलतः उसमें सिद्ध ज्ञान की चरम स्थिति है। इसलिए गोस्वामी जी स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं—

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ।।

विश्वास को समझने में साधारणतया बड़ी भूल की जाती है। नेत्र वाला भी अपने शयन कक्ष में विश्राम की स्थिति में दोनों नेत्र मूंद लेता है, तभी वह सच्चा विश्राम प्राप्त कर सकता है। किन्तु उस समय की दृष्टिहीनता अन्धत्व से सादृश्य रखते हुए भी उससे सर्वथा भिन्न है। अपने को नेत्र वाला सिद्ध करने के प्रयास में जो व्यक्ति शयन कक्ष में भी नेत्र खुले रखना चाहे वह सच्चा विश्राम और नींद तो कभी ले ही नहीं सकता।

भक्तों के विश्वास का रूप यही है, वह देख नहीं रहा है, इसलिए कुछ देखना शेष नहीं है। वह सो रहा है वास्तविक निश्चिन्तता की नींद, फिर भी उसका शयन निद्रा (अज्ञान) रहित है। गोस्वामीजी के शब्दों में—

सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि योगी।
सोइ हरि पद अनुभवै परम सुख अतिशय द्वैत वियोगी।।

ज्ञान की पूर्णता ही सिद्ध विश्वास है। इसलिए मानस के आचार्य भगवान शिव ज्ञान स्वरूप भी हैं व मूर्तिमान विश्वास और भक्ति के दाता भी।

जो ज्ञान, विश्वास के रूप में, परिणत नहीं हो जाता, उसे ज्ञान कहना व्यर्थ है, उसका उपयुक्त नाम है 'संशय'। ज्ञान केवल निषेध ही नहीं स्वीकृति भी है। अतः स्वीकृति का रूप लेते ही वह विश्वास का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। सती और शिव के रूप में इसका बड़ा ही मार्मिक चित्रण गोस्वामी जी करते हैं। सती में संशय है उन्हें "जिज्ञासा" कह लीजिए क्योंकि पार्वती के रूप में वे मानस की 'श्रद्धा' हैं।

भगवान राम को जानकीजी के अन्वेषण में रुदन करते देख कर जब भगवान शिव उन्हें सच्चिदानन्द कहकर नमन करते हैं तभी विश्वास की वास्तविक परीक्षा है। यह दृश्य है "ब्रह्म का अल्पज्ञ के समान रुदन, और अन्वेषण", यदि विश्वास में पूर्णता न हो तो उसे डिगा देने को यथेष्ट था, पर नहीं, 'विश्वास' तो पूर्ण था।

जय सच्चिदानन्द जग पावन। अस कहि चले मनोज नसावन।।

किन्तु साथ में सती हैं। वे 'दक्ष' की कन्या हैं। उन्हें अपनी बुद्धि पर अहंकार हो, यह स्वाभाविक है। इसलिए उनके मन में संशय का उदय होता है। स्पष्ट है कि उनकी सारी तर्क प्रणाली का आधार अपने नेत्रों पर विश्वास है। उन्हें त्रिनयन के साक्ष्य पर विश्वास नहीं है। उनका सीधा तर्क है :—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जिनहि न जानत बेद।।

इनका विष्णु होना भी संभव नहीं है, क्योंकि वे भी सर्वज्ञ हैं। अज्ञ के समान वे सीताजी को कैसे ढूंढ़ सकते हैं? साधारण रीति से उनकी तर्क प्रणाली में कोई दोष नहीं है। किन्तु शिव ऊपर से वास्तविक दीखने पर भी इस अवास्तविक तर्क का निराकरण करने की चेष्टा करते हैं और अन्त में उन्हें सन्तुष्ट न देखकर परीक्षा की आज्ञा देते हैं। फिर वही क्रम। सर्वज्ञता की परीक्षा के लिए जानकीजी का रूप ग्रहण, और अन्त में प्रभु के द्वारा पहिचान लिये जाने पर सभीत भाव से लौटना। किन्तु सर्वाधिक आश्चर्य जनक है सती का भगवान 'शिव' से असत्य भाषण। जिज्ञासा के पश्चात

सत्य का ज्ञान और स्वीकृति होनी चाहिए। किन्तु इससे बढ़कर धृष्टता क्या हो सकती है कि सर्वज्ञात तथ्य, जिस पर उन्हें स्वयं भी दृढ़ विश्वास था "शिव सर्वज्ञ जान सब कोई" उन से दुराव। स्पष्ट है कि केवल जिज्ञासा मात्र ही सत्य की अनुभूति और उसके परिणामों के ग्रहण के लिए यथेष्ट नहीं है। उसके लिए आवश्यकता है 'श्रद्धा' की। अतः सती को अपने एक रूप का, जिसमें केवल 'दक्षता' का प्राधान्य है, त्याग करके नवीन रूप ग्रहण करना पड़ता है, जिसमें दृढ़ता और निष्ठा का प्राधान्य है, 'शैलजा' रूप।

दक्ष यज्ञ ध्वंस की भी कथा बड़ी मार्मिक है। ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर दक्ष को 'प्रजापति' नियुक्त किया, यह उनकी योग्यता का प्रमाण था। किन्तु उस योग्यता के साथ जो छिपा हुआ अहं था, वह सत्ता प्राप्त करते ही फूट पड़ा और वह 'यज्ञ' जैसी पवित्र वस्तु में व्यक्त हुआ। उस यज्ञ में सभी देवता आमंत्रित किए जाते हैं एक मात्र 'शिव' को छोड़कर। दक्ष अपने आप को 'शिव' से श्रेष्ठ समझते हैं। चतुरता और विश्वास का यह संघर्ष सार्वकालिक है। चतुरता का प्रतीक अहंकारी दक्ष सारी साधनाओं को आमंत्रित करता है किन्तु 'विश्वास' को छोड़कर। समस्त यज्ञ की सिद्धि जिस वस्तु पर आधारित है वह है विश्वास—

कवनिउँ सिद्धि कि बिनु विश्वासा। . . . .

किन्तु 'दक्ष' 'विश्वास' का तिरस्कार करते हैं। जिज्ञासा एक ओर दक्ष की पुत्री हैं तो दूसरी ओर शिव (विश्वास) की अर्धाङ्गिनी। उनका दोनों में ममत्त्व और राग है। यह न केवल सती की समस्या है अपितु प्रत्येक जिज्ञासु की ही समस्या और अन्तर्द्वन्द का चित्रण है। 'दक्ष' और 'शिव' दोनों में उन्हें एक का चुनाव करना है किन्तु उनका अन्तर्द्वन्द्व उन्हें दोनों सम्बन्धों के निर्वाह की प्रेरणा देता है। इसीलिए एक ओर तो वे अनिमंत्रित होने पर भी पिता के यज्ञ में जाना चाहती हैं और दूसरी ओर इसके लिए 'शिव' की आज्ञा मांगती हैं। भगवान शिव के द्वारा समझाने पर भी वे 'पिता भवन उत्सव परम' में जाने का प्रलोभन नहीं छोड़ पाती हैं। बाध्य होकर शिव को आज्ञा देनी पड़ती है।

'दक्ष यज्ञ' में पहुँच कर सती ने जो दृश्य देखा, वह उन्हें असह्य हो जाता है। सती का 'शिव' से सम्बन्ध होने के नाते पिता ने कुशल प्रश्न करना भी उचित नहीं समझा। और यज्ञ में 'शिव' भाग का सर्वथा अभाव देखकर वे वास्तविकता समझ पाती हैं। "दक्ष" का पितृत्व और संस्कार एक ओर उन्हें 'विश्वास' के सामीप्य से वञ्चित करता है, दूसरी ओर

'विश्वास' की पत्नी होने के नाते उन्हें दक्ष का आदर प्राप्त करना संभव नहीं है। उन्हें आज निर्णय कर लेना है कि वे 'दक्ष' और 'शिव' में किसे अभीष्ट मानती हैं। सती के अन्तःकरण में दक्ष के प्रति भले ही ममत्त्व रहा हो पर उस अवसर पर उन्होंने निर्णय में कोई भूल नहीं की। उनके हृदय में भगवान शंकर के प्रति सच्चा अनुराग है। अतः वे दक्ष से प्राप्त शरीर के परित्याग का दृढ़ संकल्प कर लेती हैं और यज्ञाग्नि में शरीर अर्पित कर देती हैं। पर उनकी अन्तिम क़ामना है, 'जनम जनम शिव पद अनुरागा'। जिज्ञासा को श्रद्धा बनना है, तभी वह विश्वास के उपयुक्त सिद्ध हो सकती है और इसके लिए 'दक्ष' के स्थान पर हिमांचल की पुत्री बनना अभीष्ट है। दक्ष यज्ञ का ध्वंस तो होना ही था। विश्वास के अभाव में सारी साधनाएँ व्यर्थ हैं। यह कथा का तात्पर्य है। इसे यों भी कह सकते हैं कि यह दण्ड था समष्टि के अहं द्वारा व्यष्टि अहंकारों को। क्योंकि शिव को विराट के अहं के रूप में भी मानस में चित्रित किया गया है।

यज्ञ वस्तुतः व्यष्टि द्वारा समष्टि की आराधना है, पर कभी इसका उद्देश्य समष्टि आराधना के द्वारा व्यष्टि को क्षमता और शक्ति सम्पन्न करके समष्टि पर अधिकार पाना होता है और ऐसा यज्ञ वाह्य रूप में यज्ञ और आराधना जैसा होते हुए भी यज्ञ की पवित्र भावना का विरोधी है। यज्ञ व्यष्टि का समष्टि के प्रति समर्पण है न कि व्यष्टि को समष्टि की तुलना में शक्तिशाली बनाना। इसीलिए स्वयं यज्ञ रक्षकों को भी ऐसे यज्ञों का विनाश करना पड़ता है। शिव द्वारा दक्ष यज्ञ विनाश और भगवान राम द्वारा मेघनाद के यज्ञ का नाश इसी तथ्य का सूचक है।

सती शरीर परित्याग के पश्चात् नवीन जन्म ग्रहण करती हैं पर्वतराज हिमांचल के यहाँ। हिमांचल परोपकारी, सहिष्णु और अडिग हैं। सबसे महत्व की बात यह है कि वे अपने मस्तक पर शिव को स्थान दिए हुए हैं। श्रद्धा में जिन भावनाओं की अपेक्षा है, वह मानो हिमालय के माध्यम से प्रकट हो रही हैं।

वस्तुतः हमारे जीवन के समक्ष यह दो रूप हैं जिनमें चुनाव करके अपनी बुद्धि को स्थान देना है। हम अपनी बुद्धि को दक्ष कन्या बनाना चाहते हैं अथवा हिमांचल की कन्या। हम में से अधिकांश का चुनाव 'दक्षता' की ओर है। हम बुद्धि से दक्ष बनना चाहते हैं। उस में लाभ भी है दक्ष प्रजापति का पद प्राप्त कर लेता है। दक्ष को प्रजा का समादर स्वभावतः प्राप्त हो जाता है। किन्तु दक्षता अन्त में बहुधा अहं प्रदर्शन का रूप

लेती है और परिणाम है विनाश। मानस की दृष्टि में बुद्धि का वास्तविक उपयोग निष्ठा और सहिष्णुता में है क्योंकि बुद्धि का श्रद्धायुक्त होना ही सार्वभौम कल्याण के लिए अपेक्षित है।

किन्तु कथा इतने मात्र में ही समाप्त नहीं हो जाती। श्रद्धा और विश्वास का सम्मिलन, जिसे पार्वती और शंकर के विवाह के रूप में चित्रित किया गया है, वह श्रद्धा और विश्वास के सम्मिलन के मार्ग में उत्पन्न होने वाली समस्त कठिनाइयों का विस्तृत विवरण है। बड़ा ही मधुर; पर उतना ही गम्भीर और संकेतपूर्ण।

श्रद्धा और तप

पार्वती को भगवान शिव की प्राप्ति के लिए 'तप' का आदेश दिया जाता है। श्रद्धा के लिए तप अपेक्षित है। बुद्धि में भोग वासनाएँ न हों तभी वह श्रद्धा का पवित्र रूप प्राप्त कर सकती है। क्रमिक रूप से वे शरीर की अपेक्षा के नाम पर स्वीकार किए जाने वाले भोगों का परित्याग कर देती हैं।

दूसरी ओर भगवान शिव आत्मलीन हैं। सती के शरीर त्याग के पश्चात् वे वाह्य दृष्टि से उपराम हो जाते हैं। वे स्वयं पूर्ण काम हैं, अतः उन्हें किसी व्यवहार की अपेक्षा भी नहीं है। पर संसार को उनकी आवश्यकता है। श्रद्धा के बिना विश्वास आत्मनिष्ठ और निष्क्रिय हो जाता है। श्रद्धा के अभाव में विश्वास में सृजन की प्रेरणा उत्पन्न होना असंभव है। पर यह सृजन लोक कल्याण के लिए आवश्यक है, क्योंकि तारकासुर ने समस्त देवताओं को परास्त कर दिया है। देवता सुख सम्पत्ति से रहित हो चुके हैं।

तारक असुर भयउ तेहि काला। भुज प्रताप बल तेज बिसाला।।
ते सब देव लोक पति जीते। भए देव सुख संपति रीते।।

यह तारकासुर है क्या? यह समाज और व्यक्ति के जीवन में उत्पन्न होने वाली अनास्थायुक्त संशय है। देवता वे समस्त सद्‌गुण हैं जिनके द्वारा व्यक्ति सुख-संपत्ति उपलब्ध करता है। पर ऐसा भी अवसर समाज व व्यक्ति के जीवन में आता है, जब सन्देह आस्थाओं पर प्रहार करके हमारे जीवन पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। तब हमारे जीवन का तेज और गुण नाम मात्र के लिए जीवित रहते हुए भी व्यर्थ हो जाता है। स्वाभाविक ही है कि श्रद्धा विश्वास के सम्मिलन से उत्पन्न होने वाला तेज ऐसी परिस्थिति में संशय रूप तारकासुर का बध करके समाज की सुख सम्पत्ति को पुनः वापस दिला सकता है।

समष्टि वुद्धि में, जिन्हें 'ब्रह्मा' का नाम दिया गया है, प्रेरणा उत्पन्न होती है कि किसी भी प्रकार—शिव—पार्वती का मिलन होना चाहिए। पर इसका उपाय क्या है ? 'काम' का आवाहन। विना कामना के किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती। यह एक माना हुआ सिद्धान्त है। अतः काम शिव के हृदय में वासना का सृजन करे तभी यह संभव है कि शिव अपनी आत्मनिष्ठा, समाधि का परित्याग करके पार्वती को स्वीकार करें। और तब हो तारकासुर का संहार।

किन्तु इस विचारधारा की विरोधी विचारधारा भी है, जो अधिक सशक्त और महत्व की है। प्रश्न यह है कि जिस श्रद्धा और विश्वास के सम्मिलन के मूल में 'काम' होगा, वह क्या पूर्ण होगा ? क्या उसमें स्थायित्व होगा ? इसका उत्तर मानस में बड़े ही मार्मिक ढंग से गोस्वामीजी प्रस्तुत करते हैं।

साधारण दृष्टि से काम अपने प्रयास में सफल होता है, यह कहा जा सकता है। यद्यपि इस प्रयास में स्वयं उसके भी शरीर का विनाश दिखाया जाता है पर इसके पूर्व गोस्वामीजी एक और कथा लिखकर दूसरा ही संकेत देते हैं।

भगवान राम काम के आने से पूर्व ही 'शिव' के समक्ष प्रकट होकर उनसे 'पार्वती' को स्वीकार करने की प्रार्थना कर चुके हैं और 'शिव' भी उसे प्रभु की आज्ञा समझ कर स्वीकार कर चुके हैं।

कह शिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं।।

इस विवाह के पक्ष में प्रभु ने पार्वती के पवित्र चरित्र की चर्चा की है। श्रद्धा और विश्वास का सम्मिलन अपेक्षित है। पर वह कैसे संभव हो ? इस प्रश्न के दो उत्तर हैं। (१) काम की प्रेरणा, अथवा (२) राम की प्रेरणा।

मानस का उत्तर स्पष्ट है। विश्वास काम का शत्रु है। शिव कामारि हैं। भक्ति में जिस श्रद्धा और विश्वास की अपेक्षा है, वह काम प्रभावित नहीं हो सकती। काम के द्वारा उत्प्रेरित विश्वास विश्वासाभास ही हो सकता है। काम उतार चढ़ाव की स्थिति से भरा हुआ है। उसमें चढ़ाव का जितना आवेग है, उतना ही वेग उतार का भी। उस पर आधारित विश्वास भी एक रस नहीं हो सकता है। साधारणतया समाज में विश्वास शब्द जिन अर्थों में प्रयुक्त होता है, वह ठीक इसी प्रकार होता है। किसी विशेष कामना से प्रेरित होकर हम 'विश्वासी' बनने का स्वांग करते हैं। वाह्य आचरण से बहुरूपिए के समान उसी प्रकार का व्यवहार भी प्रदर्शित

करते हैं। पर परिणाम क्या होता है? वह विश्वास चाहे ईश्वर के प्रति या महापुरुष के प्रति हो परिवर्तित होता रहता है। कामना-पूर्ति में बाधा पड़ने पर तो उसकी प्रतिकूल प्रक्रिया तत्काल होती है। पर कामना-पूर्ति होने पर भी नई नई कामनाओं का उदय होता रहता है। और अपने विश्वास के बदले में हम इतना चाहते हैं जो असंभव है। अन्ततोगत्वा इस विश्वास का प्रत्यावर्तन निश्चित है। मानस में विश्वास का स्वरूप हमारी इस भ्रान्ति को निवारण कर सकता है, यदि हम गम्भीरता से उसमें निहित संकेतों को ग्रहण कर सकें।

फिर काम का क्या प्रयोजन रह जाता है? क्या उसका यह अभियान सर्वथा व्यर्थ था, जो ब्रह्मा की प्रेरणा से किया गया था? क्या ब्रह्मा उस सत्य से अनभिज्ञ थे, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है? इसका उत्तर 'नहीं' है। ब्रह्मा का इसमें भी स्पष्ट उद्देश्य था। ब्रह्मा लोक निर्माता हैं। उस लोक निर्माण में 'काम' उनकी मुख्य शक्ति है। सृजन के लिये सम्मिलिन की जो अपेक्षा है, उसका प्रेरक काम ही है। इसीलिए विवाह के मंत्रों में काम की महती महिमा गाई गई है।

शिव पार्वती के विवाह में भी अन्ततोगत्वा 'काम' का किसी न किसी रूप में सहयोग तो लेना ही है। हाँ, यह अपेक्षित था कि उसका एक संशोधित रूप हो। क्योंकि काम जहाँ लोक सृजन का महान प्रेरक है, वहाँ आवेग के कारण उसके द्वारा मर्यादाओं का ध्वंस भी होता रहता है। ब्रह्मा भी उसकी इस भयावह शक्ति की लपेट में आ जाते हैं। अतः इससे उपयुक्त अवसर क्या हो सकता है कि इस संघर्ष से दोहरा लाभ उठाया जाय।

काम और विश्वास का यह संघर्ष अन्त में लोक कल्याण का हेतु बन जायगा। विश्वास की निष्क्रियता दूर होगी और काम को प्राप्त होगा एक नया रूप। इसलिए ब्रह्मा का यह कार्य पूर्ण रीति से सुनियोजित था।

यह ठीक है कि भगवान शिव राम की आज्ञा से पार्वती को स्वीकार करना मान चुके हैं पर इसके बाद भी वे समाधिस्थ हो जाते हैं। प्रभु के दर्शन के पश्चात् वे और भी अन्तर्मुख और आत्मलीन हो जाते हैं। प्रभु के दर्शन का इससे अधिक उपयुक्त परिणाम हो भी क्या सकता है। पर समाज को आवश्यकता है उनको इस स्थिति से बाहर ले आने की। काम को यही कार्य सौंपा गया है। अखण्ड शक्ति में क्षोभ का उदय करना है। प्रशान्त सागर के समान भगवान शिव के हृदय को एक क्षण के लिए ही सही तरंगायित अवश्य करना है। और अपने इस कार्य में वह किसी न किसी रूप में सफल भी होता है।

काम और शिव के संघर्ष के पहिले गोस्वामीजी ने काम की यात्रा और उसके प्रभाव का विस्तार से वर्णन किया है। लोगों को यह बात कुछ अटपटी लगती है, विशेष रूप से जो अत्यधिक मर्यादावादी हैं, स्वयं गोस्वामी जी भी कम मर्यादावादी नहीं हैं। फिर भी उनके द्वारा इस प्रसंग का वर्णन कुछ ऐसे शब्दों में है कि कुछ की दृष्टि में यह अमर्यादित हो गया है।

मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि आलोचना का यह दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित है। काम के अभियान में उसका सूक्ष्म वर्णन इस दृष्टि से भी अपेक्षित है कि उसके रूप को हम सही रूप में देख सकें। यह ध्यान रहे कि उसकी इस यात्रा के प्रारम्भ में उसके वाक्य और उसका उद्देश्य उसे एक ऐसा रूप दे देता है, जिससे वह एक महान नायक का रूप ग्रहण कर लेता है।

परहित लागि तजइ जो देही। संतत सन्त प्रसंसहिं तेही।

अस कहि चलेउ सबहिं सिर नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई।।

अभियान का उसका यह रूप उसके प्रति आदर और सहानुभूति का सृजन कर देता है और तब शंकर द्वारा भस्म किए जाने पर पाठक के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही था कि ऐसे पवित्र उद्देश्य और उदार हृदय के व्यक्ति के साथ ऐसा व्यवहार क्यों ?

गोस्वामीजी का यह अभियान-वर्णन हमारे सामने उतने ही सूक्ष्म शब्दों में उसका वह रूप भी रख देता है, जिससे उसको दिया गया दण्ड भी अपना औचित्य सिद्ध कर देता है।

पवित्र उद्देश्य लेकर चलने पर भी अपने ध्वंसक स्वभाव का वह त्याग नहीं कर पाता। अपने प्रभाव का प्रदर्शन उसे प्रिय है और उस क्षण उसका वह खुलकर प्रयोग भी करता है। काम का यही वह अंश है जिससे उसकी सारी योग्यताएँ ढक जाती हैं। अपनी शक्ति का वह उतना ही प्रयोग नहीं करता जितने की अपेक्षा है अपितु उससे भी बहुगुणित शक्ति को वह अपने अहं के प्रदर्शन में प्रयुक्त करता है।

काम भावना के इस रूप को सामाजिक जीवन में हम खुल कर देख सकते हैं। काम के लिए किसी सीमा रेखा में रहना संभव ही नहीं है। तब वह सृष्टि सृजन के साथ अनेक बुराइयों का भी सृजन कर देता है।

काम के अभियान का परिणाम गोस्वामी जी ने इन शब्दों में किया है :—

कोपेउ जबहिं बारिचर केतू। छन महं मिटे सकल श्रुति सेतू।

ब्रह्मचर्य ब्रत संयम नाना। धीरज धरम ज्ञान बिज्ञाना।।

सदाचार जप जोग बिरागा। समय बिवेक कटक सब भागा।।

इस प्रकार उसके द्वारा वही कार्य सम्पन्न हो जाता है जो दैत्यों को अपेक्षित है। इसलिए काम और शिव का यह संघर्ष एक नई भावना का सृजन करता है। काम को भस्म करने के वाद वर द्वारा उसे पुनर्ज्जीवित करना एक ऐसी कला है जो समाज के लिए काम की है।

शंकर की तृतीय दृष्टि खुलते ही काम का वह विश्व सम्मोहित करने वाला रूप जल कर मुट्ठी भर राख के रूप में परिणत हो जाता है। वस्तुतः काम की सर्वोत्कृष्ट कला यही है कि वह कल्पित सौंदर्य के द्वारा व्यक्ति के मन पर अधिकार कर लेता है। या यों कहलें कि जैसे किसी अंधे व्यक्ति के समक्ष कुरूप से कुरूप व्यक्ति को सौन्दर्य निधि के रूप में चित्रण करने पर वह उसे स्वीकार कर लेगा। ठीक यही कार्य काम का है। वासनाओं के द्वारा वह हमारे देखने, सोचने, समझने की शक्ति नष्ट कर देता है। और उस समय हम उसकी इच्छा के अनुकूल वस्तु को सौन्दर्यमय रूप में मान कर उसे पाने के लिए व्यग्र हो उठते हैं। गोस्वामीजी ने इसी बात को विनय पत्रिका में बड़े सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। विषयों की निन्दा की जाती है। फिर भी मनुष्य के मनमें उसके प्रति आकर्षण कम नहीं होता। क्योंकि उसे विषयों में मिठास का अनुभव होता है। तो यह मिठास क्या वास्तविक नहीं? गोस्वामीजी कहते हैं :—

"काम भुजंग डसत जब जाही, विषय निम्ब कटु लगत न ताही"

इन पंक्तियों में एक प्रचलित धारणा के आश्रय से गोस्वामीजी ने विषय की मिठास का वास्तविक रूप बताया है। गाँवों में यदि किसी को अन्धेरे में कोई जन्तु काटले और यह पता न लग सका हो कि वह कौन जन्तु था। कहीं सर्प ने तो नहीं काट लिया? इसे जानने के लिए वे उसे नीम की पत्ती खिलाते हैं। यदि नीम की पत्ती मीठी जान पड़े तब निश्चित हो जाता है कि उसे सर्प ने ही काटा है। गोस्वामीजी का कहना है, विजय निम्ब में मिठास का अनुभव इस बात का प्रमाण है कि उसे काम-भुजंग ने काट लिया है।

काम का आक्रमण व्यक्ति को अन्धा बना देता है। 'मदन अन्ध व्याकुल सब लोका' किन्तु भगवान शिव के यहाँ तो कुछ और ही हुआ। वहाँ तो मन में क्षणिक क्षोभ का अनुभव होते ही वे कारण की खोज करने के लिए नेत्रों को खोल कर सारी दिशाओं में देखते हैं। काम के आक्रमण से भले ही क्षणिक क्षोभ हो, पर जिसमें उस समय भी देखने की शक्ति का लोप नहीं होता, वह अन्त में काम पर विजय पा ही लेता है। यही वह सन्देश है जो गोस्वामीजी इस प्रसंग के द्वारा हमें देते हैं। भगवान शिव के पास

तो तृतीय नेत्र भी है, अतः उस ज्ञान नेत्र के समक्ष होते ही उसकी अनित्यता स्पष्ट रूप में सामने आ जाती है।

काम प्रसंग में अत्यधिक महत्व का एक संकेत और है। मानस में ऐसे दो पात्र हैं जिन पर काम का आक्रमण होता है। नारद और शिव। किन्तु दोनों का काम के प्रति व्यवहार भिन्न प्रकार का है। जहाँ भगवान शिव काम पर क्रुद्ध होकर उसे भस्म कर देते हैं, वहाँ नारद काम पर रंचमात्र क्रोध नहीं करते, अपितु—

भयउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा।।

दोनों में काम के प्रति किसका व्यवहार औचित्यपूर्ण है, यह एक प्रश्न है? वाह्य दृष्टि से नारद का कार्य अधिक उदात्त जान पड़ता है। स्वयं नारद ने भी इसी भावना से काम विजय के पश्चात् स्वयं में शिव की अपेक्षा श्रेष्ठता का अनुभव किया था। "शिव केवल काम के विजेता हैं, मैं काम और क्रोध दोनों का"। ऐसा मान कर ही उनमें अहंकार का उदय हुआ। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करते ही शंकर के कार्य की महत्ता समझी जा सकती है। यह हमारे जीवन में नित्य उठनेवाली समस्या का समाधान है।

हम वाह्य जीवन का समझौतावादी रुख; जो सम्भवतः सामाजिक व्यवहार के लिए अपेक्षित भी है, अपने आन्तर जीवन में भी बना लेते हैं। अपितु सच्चाई तो यह है कि हम वाह्य जीवन में भले ही सहिष्णु न हों किन्तु अपनी बुराइयों के प्रति सहिष्णुता की भावना बनाये रखते हैं। परिणाम क्या होता है? बुराइयों को अपनी मनमानी का पूरा अवसर प्राप्त हो जाता है। और इस समझौते से अच्छाइयों का, सद्गुणों का विनाश छोड़ कर और कुछ नहीं होता है।

रावण और विभीषण के सम्बन्ध के माध्यम से गोस्वामीजी ने इस समस्या को मानस में बड़ी सुन्दर रीति से व्यक्त किया है। रावण और विभीषण दो विरोधी मनोवृत्ति वाले व्यक्ति लंका में एक साथ निवास करते हैं। रावण लोक दृष्टि से बड़ा असहिष्णु है क्योंकि वह धर्म का पूरी तरह से विनाश करना चाहता है। इसलिए यज्ञ, दान, पूजा, वेद-पुराण वह सभी का विरोध करता है। गोस्वामीजी उसके अत्याचारों का इन शब्दों में वर्णन करते हैं:—

नहिं हरि भगति यज्ञ तप दाना। सपनेहुँ सुनिय न बेद पुराना।।
जप योग बिरागा तप मख भागा श्रवण सुनइ दशशीसा।
आपुहि उठि धावइ रहन न पावइ धरि घालइ सब खीसा।।

अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिय नहिं काना।
तेहि बहु बिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना।

पर वही अपने नगर में सहिष्णुता का मूर्तिमान रूप दिखाई देता है। उसके महल के निकट ही उसके छोटे भाई का भवन है और वहाँ 'हरि मन्दिर' भी है, तुलसी के पौधे और रामायुध के चिह्न भी हैं। क्यों? इसका क्या अभिप्राय है? इसको समझने के लिए हमें विनय पत्रिका के उस पद पर ध्यान देना चाहिए जिसमें गोस्वामीजी ने मानव मन में चलनेवाली रामायण का वर्णन किया है। उसमें विभीषण को जीव और रावण को मोह का प्रतीक माना गया है।

मोह दशमौलि तद् भ्रात अहंकार पाकारिजित काम विश्राम हारी

.. ..

जीव भवदंध्रि सेवक विभीषण बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिन्ता

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का इससे अधिक वास्तविक चित्र क्या हो सकता है कि उसके हृदय में एक साथ सद्गुण और दुर्गुण रह रहे हैं। विभीषण को इतने मात्र से सन्तोष है कि रावण उसके प्रति सहिष्णु है और वह उन्हें भजन करने की सुविधा दे देता है। पर यह स्थिति कितनी अवास्तविक और दुर्भाग्यपूर्ण है, इसमें कितना झूठा आत्म-तोष है, इसका पता उन्हें बहुत बाद में चल पाता है। जीवन में जीव की यही तो स्थिति है। उस पर मोह का शासन है पर कुछ क्षणों के लिए पूजा-पाठ से वह सन्तुष्ट हो जाता है, यही क्या कम है? और सारा वाह्य-जीवन मोह की आज्ञा के अनुकूल संचालित हो रहा है। इस समझौते को मिटाना ही होगा। जीव को यह निर्णय कर लेना है कि दुर्गुणों की यह सहिष्णुता केवल दिखावा मात्र है। दोनों का एक साथ रहना समाज और विश्व के लिए अकल्याण-कारी है। मोह के प्रति कठोर बनना ही होगा। झूठे बन्धुत्व का यह नाता तोड़ना ही होगा। तभी बुराइयों का विनाश होकर राम के प्रेम-राज्य की स्थापना होगी।

फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमला पति पाहीं।।
देहउं शाप कि मरिहौं जाई। .. ..

दुर्गुणों के प्रति दया ही सद्गुणों के प्रति कठोरता का अनजान में कारण बन जाती है। नारद यदि काम पर क्रोध न करके इसे अपनी बहुत बड़ी सफलता मानते हैं तो उन्हें 'राम' पर क्रोध आता है।

शंकर तो परमाचार्य हैं। वे जानते हैं, बुराइयों पर दया नहीं दिखानी चाहिए। वे "विषस्य विषमौषधम्" का प्रयोग करते हैं। क्रोध की

भावना का इससे बड़ा कोई सदुपयोग नहीं हो सकता कि उसके द्वारा हम काम को परास्त कर दें।

किन्तु काम के विनाश ने कई समस्याएं उत्पन्न कर दीं। जिनके जीवन का लक्ष्य केवल पारमार्थिक सत्य की खोज थी उनके लिए यह वरदान हो सकता था। किन्तु सृष्टि का सृजन? यह एक प्रश्न बन गया। काम का विनाश हो गया पर रति जीवित है और वह अपने आपको अनाथ अनुभव करती है। रति का होना तो आवश्यक ही है। यह रति तो भक्तों के लिए भी अत्यधिक अपेक्षित है। वे काम का विरोध करते हैं पर रति का नहीं। उनकी भक्ति है क्या? 'काम विहीन रति'।

श्री भरत याचना करतें हैं।

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउं निर्बान।
जन्म जन्म रति राम पद, यह वरदान न आन।।

अथवा राम-कथा का फल क्या है?

यह रावणारि चरित्र पावन राम पद रति प्रद सदा।
कामादि हर विज्ञान कर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा।

वे 'काम' विहीन रति की याचना करतें हैं क्योंकि कामयुक्त होने पर उनकी 'राम पद रति' भी क्षणिक हो जायगी। उन्हें चाहिए अविच्छिन्न एक रस रति। जिसमें चढ़ाव ही हो उतार नहीं।

भगवान शिव के द्वारा यह कार्य सम्पन्न भी हो जाता है। पर यह सार्वजनिक दृष्टि से सर्वसाधारण के लिए असंभव-सी वस्तु है। उनके लिए 'काम' त्याज्य नहीं। क्योंकि असत् के साथ सत्प्रेरणा में भी वह अपनी आवेगमयी शक्ति देता है। उनके लिए रति और काम एक दूसरे के प्रेरक हैं और पूरक हैं। रति स्वयं विह्वल और व्यथित है। अतः भक्ति का एक दूसरा स्तर भी निर्मित होता है 'सकाम भक्ति'। यहीं भस्म करने के बाद उसे 'अनंग' रूप में पुनरुज्जीवित किया जाता है और शरीर ग्रहण के लिए कृष्ण का पुत्र बनने की शर्त्त। भगवान कृष्ण से सम्बद्ध होकर काम एक नया रूप ग्रहण कर लेता है और वह भक्तों के लिए भी त्याज्य नहीं रह जाता।

इस तरह 'मदन दहन' प्रसंग के द्वारा तीन स्तर बन जाते हैं—काम-विहीन रति। यह भक्ति की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। और दूसरी कृष्ण सम्बन्धी काम। यह सकाम भक्ति है। तीसरा है अनंग काम जो सृष्टि के सृजन के लिए अपेक्षित है। विश्वास और काम का यह युद्ध अन्त में हमारे समक्ष काम की वास्तविकता रख देता है, उसके दोष-गुण उपयोग-अनुपयोग सब।

इसके पश्चात् ही ब्रह्मा भगवान शिव से विवाह की स्वीकृति ले लेते हैं। फिर भी 'शिव' द्वारा सप्तर्षि पार्वती की परीक्षा के लिए भेजे जाते हैं। परीक्षा की आवश्यकता क्या थी? क्या भगवान राम की बातों पर भूत-भावन शिव को विश्वास नहीं? इसका उत्तर है 'नहीं।' फिर भी परीक्षा के द्वारा श्रद्धा का वास्तविक रूप भी तो विश्व के सामने रखना अपेक्षित है।

परीक्षा

तपस्यानिरता मूर्तिमती श्रद्धा उमा के पास सप्तर्षि जाते हैं और आश्चर्य-चकित की-सी मुद्रा में प्रश्न करते हैं: "केहि अवराधहु का तुम चहहू" और बड़ी नम्रता-भरी वाणी में पार्वती उत्तर देती हैं: "चाहिय सदा शिवहिं भरतारा" प्रत्युत्तर में श्रद्धा को सुनाई पड़ता है, सप्तर्षियों का सम्मिलित अट्टहास। कैसी हतप्रभ कर देनेवाली बात है! फिर वे लोग साफ-साफ व्यंग्य करते हुए कहते हैं: "पर्वत की ही कन्या हो न? इसी से तो ऐसी जड़ता सम्भव है। पिता ही क्यों? फिर तो उनकी कटूक्तियों के लक्ष्य आचार्य इष्ट सभी हो जाते हैं। पर्वत की कन्या और नारद की शिष्या, नारद का उपदेश सुनकर आज तक किसी का घर बसा है क्या? वह देखने में ही सज्जन है। वह तो मन से घोर कपटी है और स्वयं सदृश और को भी गृह हीन बना देना चाहता है।" और मान भी लें यदि कोई बुरा व्यक्ति भी अच्छे लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रेरणा दे तो उसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पर तुम्हारा प्राप्तव्य भी तो अवगुणों का मूर्तिमान आगार है। गोस्वामी जी के शब्दों में—

सुनत बचन विहंसे रिषय, गिरि संभव तव गेह।
नारद कर उपदेश सुनि, कहहु बसेहु किसु गेह।।
मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। आपु सरिस सबहीं चह कीन्हा।।
तेहि के बचन मानि बिश्वासा। तुम चाहहु पति सहज उदासा।।
निर्गुण निलज कुवेष कपाली। अकुल अगेह दिगम्बर व्याली।।
कहहु कवन सुख अस वर पाए। भल भूलिहु ठग के बौराए।।

साथ ही उपयुक्त पति की प्राप्ति का प्रलोभन भी सामने रखते हैं। वैकुण्ठाधिपति विष्णु से बढ़ कर उपयुक्त कौन-सा पात्र तुम्हारे लिए हो सकता है? समस्त सद्गुणों के आगार लोक-पालक भगवान् विष्णु—

अजहूं मानहु कहा हमारा। हम तुम कहं वर नीक विचारा।।
अति सुन्दर शुचि सुखद सुशीला। गावहिं वेद जासु जस लीला।।

दूषण रहित सकल गुण रासी । श्रीपति पुर बैकुण्ठ निवासी ।।
अस बर तुम्हहिं मिलाउब आनी । . . ..

पार्वती के लिए यह परीक्षा का कठिन अवसर था। उनके कठिन तप और प्रयास का इससे अधिक क्या दुष्परिणाम सामने रखा जा सकता था? यही समय था जब अवास्तविक श्रद्धा अपने लक्ष्य से डिग सकती थी, उसका त्याग कर सकती थी। पर श्रद्धा का सर्वप्रथम गुण ही है अविचलित रहना। भय और प्रलोभनों से प्रभावित न होना। जिसे हम पार्वती जी के चरित्र में पूरी तरह से पाते हैं। जो व्यक्ति दूसरों के कहने से अपने लक्ष्य और साधनों में परिवर्तन करता रहता है उसे किसी महत लक्ष्य की उपलब्धि कभी नहीं हो सकती है। निष्ठा ही सिद्धि का मूलाधार है। इसीलिए पार्वती हत्प्रभ हुए बिना उत्तर देती हैं—

"मैं तो आपलोगों के शब्दों में गिरि कन्या हूँ न? फिर मैं अपने हठ का त्याग कैसे कर सकती हूँ। स्वर्ण भी पाषाण से ही उत्पन्न होता है पर उसे जला देने पर भी अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता। फिर आपलोग कैसे आशा कर सकते हैं कि मैं अपने स्वभाव का त्याग कर दूंगी। महादेव अवगुणी हो सकते हैं और विष्णु गुण-युक्त। पर, हृदय तो इन वस्तुओं को देखता नहीं। किसे कौन प्रिय लगता है और क्यों? इसे बताना क्या संभव है?

सत्य कहेहु गिरि भव तनु एहा। हठ न छूट छूटइ बरु देहा।।
कनकउ पुनि पाषान ते होई। जारेउ सहज न परिहरि सोई।।

आचार्य देवर्षि नारद पर किये आक्षेपों का कोई उत्तर न देते हुए भी वे बड़ी दृढ़ता से उनमें अपनी आस्था प्रकट कर देती हैं। पूरी सैद्धान्तिक दृढ़ता के साथ उन्होंने कहा मुझे नारद के वचनों में दृढ़ विश्वास है। गुरु के वचनों में जिसकी आस्था नहीं, उसे स्वप्न में भी सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। मैं तो भगवान शिव के कहने पर भी नारद के उपदेशों का परित्याग नहीं कर सकती। मेरा एक ही दृढ़ निश्चय है, करोड़ों जन्म बीत जाने पर भी मैं शिव को ही पति रूप में प्राप्त करना चाहूँगी, अन्यथा कुमारी रहना स्वीकार—

जन्म कोटि लगि रगरि हमारी। बरौं संभु न त रहौं कुमारी।।"

वस्तुतः स्वर्ण की उपमा आस्था और निष्ठा के लिए बहुत उपयुक्त है। अग्नि में पड़कर खरा सोना और भी चमकदार रूप में निखर आता है। वास्तविक श्रद्धा समस्त भय और प्रलोभनों में अपने को स्थिर रखती है। कठिनाइयाँ उसको और भी उज्जवल रूप दे देती हैं। इस प्रसंग में पार्वतीजी

के मुख से एक और भी सैद्धान्तिक प्रश्न का समाधान किया गया है। वह है गुरु और इष्ट की समस्या। इष्ट साधक का प्राप्तव्य है और गुरु उस प्राप्ति के उपाय को बतानेवाला। किन्तु साधना का यह विलक्षण रहस्य है कि साध्य कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो; साधक के लिए साधन काल में गुरु का स्थान साध्य की अपेक्षा भी अधिक उत्कृष्ट है। इसी सत्य का उद्घोष पार्वतीजी के इन वाक्यों में हो रहा है :—

तजउं न नारद कर उपदेशू। आपु कहंइ सत बार महेशू।।

साधारण दृष्टि से यह बात कितनी अटपटी प्रतीत क्यों न हो; विचार करने से यह एक युक्तिसंगत सिद्धान्त सिद्ध होता है। गुरु और आचार्य की अपेक्षा ही क्यों है? क्योंकि हम प्राप्तव्य की इच्छा रखते हुए भी स्वयं अपने पुरुषार्थ से उसे प्राप्त कर सकने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं, तब हमें एक ऐसे महत्पुरुष की आवश्यकता है; जिसके विषय में हमें यह पूर्ण निश्चय हो कि वह उस तत्व को और उसकी प्राप्ति के उपाय को भली प्रकार जानता है। साध्य की प्राप्ति उसकी कृपा पर ही निर्भर है। गुरु को भगवान का ही रूप मानते हैं। और इस मान्यता के पीछे यह धारणा कार्य कर रही है कि भगवत्तत्व का रहस्य भगवान को छोड़ अन्य किसी की भी बुद्धि सीमा में नहीं आ सकता। अतः भगवान ही गुरु के रूप में अपनी प्राप्ति का मार्ग बताते हैं। ऐसी स्थिति में साधन काल में उनका महत्व साध्य की अपेक्षा भी अधिक है अथवा आचार्य तो इष्ट से प्रेम की ही शिक्षा देता है। यह भी ध्यान रहे कि जो गुरु इष्ट का विरोध करे वह गुरु नहीं है। अब यदि आराध्य इष्ट गुरु के उपदेश का विरोध करता है तो इसका अभिप्राय है कि वह स्वयं से किये जानेवाले प्रेम का ही विरोध करता है। हम इष्ट की आज्ञा से सर्वत्याग कर सकते हैं, पर प्रेम का नहीं। एक पतिव्रता पति की प्रत्येक आज्ञा का पालन कर सकती है पर पातिव्रत्य का त्याग नहीं। यहाँ धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। यदि पतिव्रता पति की आज्ञा से स्वव्रत का त्याग कर सकती है; तब तो जिस आधार पर वह आज्ञा पालन करती है, उस आधार का ही विनाश हो जाता है। इसलिए आधार की रक्षा के लिए उसे व्रत त्याग की आज्ञा का उल्लंघन करना ही होगा। ठीक यही स्थिति साधना में भी है।

गुरु उपदेश ही वह आधार है जो साधक और भगवान के सम्बन्ध को जोड़ता है। उस आधार का त्याग करके साधक इष्ट गुरु दोनों ही से दूर हो जायगा। इसी भावना का व्यक्तीकरण पार्वतीजी के मुख से होता है। सप्तर्षियों द्वारा यह प्रथम परीक्षा थी जो मदन दहन के पूर्व ली

गई थी। मदन दहन के वाद उन्हें एक बार पुनः अवसर मिलता है कि वे श्रद्धा की परीक्षा करें। विवाह का आधार है 'काम'। विवाह का अभिप्राय है धर्म नियन्त्रित काम की स्वीकृति। पर यहाँ तो काम को ही जलाया जा चुका है और वह भी उसके द्वारा जिन्हें पार्वती प्राप्त करना चाहती हैं। अब विवाह का क्या प्रयोजन शेष रह जाता है? यही वह प्रश्न है, जिसे सप्तर्षि पार्वती के सामने रखते हैं।

कहा हमार न सुनेउ तब, नारद के उपदेश।
अब भा झूठ तुम्हार पन, जारेउ काम महेश।।

पार्वती के मुख पर मुस्कराहट आ जाती है। यहाँ मुझे बरबस कालिदास की पार्वती का स्मरण हो आता है। वहाँ कथा कुछ भिन्न प्रकार की है। कुमार संभव में काम भगवान शिव पर तब आक्रमण करता है जब पार्वती महेश का पूजन कर रही हैं और एक क्षण के क्षोभ के पश्चात् उनके सामने ही रुद्र द्वारा काम भस्म कर दिया जाता है। काम के इस भस्मीकरण से कुमार संभव की पार्वती को बहुत अधिक मानसिक कष्ट होता है और वे अपने सौन्दर्य की निन्दा करती हैं। क्योंकि सौन्दर्य द्वारा शिव को नहीं रिझा पायीं। उल्टे काम को क्रोध भाजन बनना पड़ा। स्पष्ट है कि कालिदास की पार्वती उत्कृष्ट होते हुए भी साहित्य की विशिष्ट नायिका ही हैं। मूर्तिमती श्रद्धा नहीं। गोस्वामीजी के मानस की पार्वती यहाँ सर्वथा भिन्न हैं। मदन दहन का समाचार सुन कर उसके उत्तर में वे जो कुछ कहती हैं, वह उनके श्रद्धामय रूप के अनुरूप है। वह एक गम्भीर उदात्त भाव पूर्ण दार्शनिक उत्तर है।

वे मुस्करा कर कहती हैं कि अच्छा तो इसका अभिप्राय आपलोग यह समझते हैं कि भगवान शिव ने काम का विनाश अब किया है। महानुभावो, वे तो सर्वदा ही काम से परे निर्विकार हैं। काम का भस्म होना तो इस वात का सूचक है कि काम जब तक उनसे दूर था, सुरक्षित था। पर जब उसने निकट आने की चेष्टा की, तब उसका नाश अवश्यम्भावी था। शंकर उसका विनाश नहीं करते, वही उनके समीप जाकर अपना विनाश कर लेता है। मैंने सदा ही शिव को अकाम और अभोगी समझ कर उनकी आराधना की है। यदि मेरी यह धारणा वास्तविक होगी तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि भूत-भावन कृपा-मय शिव मुझे अवश्य स्वीकार करेंगे। गोस्वामी जी के शव्दों में—

तुम जो कहा हर जारेउ मारा। सोइ अति बड़ अविवेक तुम्हारा।।
तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ।।

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 34173
Date 5-3-70

गए समीप सो अवसि नसाई। अस मनमथ महेश की नाई।।
तुम्हरे जान काम अब जारा। अब लगि शंभु रहे अविकारा।।
हमरे जान सदा शिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी।।
जो मैं शिव सेएउं अस जानी। प्रीति समेत कर्म मन बानी।।
तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपा निधि ईसा।।

कितनी उदात्त भावना प्रकट हो रही है इस उत्तर में। वस्तुतः श्रद्धा का स्वरूप भी यही है। कामना के द्वारा जिस श्रद्धा का निर्माण होता है वहाँ अधिक संभावना यही है कि श्रद्धेय में दिखाई देनेवाले गुण लोभ-वृत्ति का परिणाम हों। कामना और लोभ होते हुए गुण दर्शन की वास्तविकता अवास्तविकता का पता चलना कठिन है। रहीम के शब्दों में—

दिए लोभ चसमा चखनि, लघुहू बड़ो लखाय।

यहाँ पर अन्ध-विश्वास की धारणा का भी निराकरण हो जाता है। पार्वती जी के प्रथम परीक्षा के अवसर पर दिये गये उत्तर से यह भ्रान्ति हो सकती थी—

महादेव अवगुण भवन, विष्णु सकल गुण धाम।
जा कर मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम।।

इस उत्तर से लगता है कि पार्वती बौद्धिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार ही नहीं करना चाहतीं। वहुधा भिन्न-भिन्न प्रसंगों में अनेक भक्तों के द्वारा इससे मिलते-जुलते उत्तरों से वहुतों ने यह निष्कर्ष निकालने की चेष्टा की कि भक्त बुद्धि से दूर भागता है। किन्तु वह सत्य नहीं। भक्त यदि तर्क-वितर्क नहीं करता; तो इसका कारण यही है, उसे तत्त्व-बोध हो चुका है। वह निस्संशय है, तर्क-वितर्क तो संशय की उपज है। जब गोस्वामीजी यह कहते हैं कि —

जौ जगदीश तो अति भलो, जौ महीश तउ भाग।
तुलसी चाहत जन्म भरि, राम चरण अनुराग।।

इसका यह रंचमात्र अभिप्राय नहीं कि उनके मन में यह विकल्प है कि राम ईश्वर हैं अथवा मनुष्य? उन्हें इसका सम्यक् बोध है। फिर भी इस उत्तर से वे विवाद का द्वार बन्द कर देते हैं। अधिक से अधिक तर्क-वितर्क के द्वारा कोई राम की ईश्वरता का खण्डन कर देगा। उन्हें इसकी कोई चिन्ता नहीं। उन्हें तर्क के खोखलेपन का भली प्रकार ज्ञान है। इसीलिए वे कह देते हैं, मुझे राम से प्रेम है। "वे ईश्वर हों या मनुष्य" आलोचक मुँहकी खाकर लौटता है।

यहाँ भी श्री पार्वती का उत्तर उनकी धारणा को स्पष्ट कर देता है।

उन्हें भगवान शिव के स्वरूप का ज्ञान सप्तर्षियों की अपेक्षा भी अधिक है। इसलिए मदन दहन का समाचार न तो उनके लिए नया है और न तो विस्मयकारी। उनकी दृष्टि में सदाशिव का स्वरूप वही था, जिसे सप्तर्षि काम नाश के पश्चात् समझ पाए। उन्होंने विवाह की कल्पना में कोई ऐसी आशा नहीं की थी; जिसके लिए इस समाचार से उन्हें निराश होना पड़ता। पूर्ण श्रद्धा निष्काम ही हो सकती है। प्रथम बार के उत्तर में 'महादेव अवगुण भवन' की स्वीकृति तर्क-वितर्क को समाप्त करने की चेष्टा मात्र है।

श्रद्धा की निष्ठामयी उक्ति के समक्ष सप्तर्षि नत होकर पार्वती के चरणों में प्रणाम करके लौट जाते हैं।

सम्मिलन

दोनों ही ओर विवाह का समारम्भ होने लगता है। भगवान शिव का भी शृङ्गार किया जाता है। पर वह भी एक विलक्षण दृश्य था जब इस अद्भुत 'न भूतो न भविष्यति' दूलह का उसके गण शृङ्गार करते हैं।

कुण्डल कंकण पहिरे ब्याला। तन विभूति पट केहरि छाला॥
शशि ललाट सुन्दर सिर गंगा। नयन तीनि उपवीत भुजंगा॥
गरल कण्ठ उर नर सिर माला। अशिव वेष शिव धाम कृपाला॥

सर्पों का समूह ही जिनका आभूषण है। शरीर में चिता भस्म का अनुलेपन। बाघम्बर का वस्त्र। कण्ठ में मुण्डमाल। गंगा की धारा सिर पर प्रवाहित हो रही है। ऐसा दूल्हा क्या विश्व में उपलब्ध हो सकता है? तभी तो गोस्वामी जी कहते हैं कि दूल्हे को देखते ही देव स्त्रियों ने व्यंग युक्त हास्य किया—

देखि शिवहिं सुर तिय मुसुकाहीं। वर लायक दुलहिन जग नाहीं॥

पर इस विलक्षण वेश का तात्पर्य क्या? पुराणों का यह प्रसिद्ध रूप है जिसका वर्णन बार-बार किया गया है। अन्य देवताओं से सर्वथा भिन्न भगवान शिव का यह रूप आश्चर्य की सृष्टि करता है। आर्य-द्राविड़ सभ्यताओं का संघर्ष माननेवाले पुरातत्वविद् कहते हैं 'शिव' द्राविड़ देवता थे; जिन्हें बाद में आर्यों ने स्वीकार कर लिया। इस दृष्टि से सोचने की शैली पर विवाद यहां अपेक्षित नहीं किन्तु इसकी एक स्पष्ट साधना मूलक संगति भी है; जो अधिक भावात्मक और मानव जीवन के सन्निकट है। शिव का यह स्वरूप एक विशिष्ट भावना का प्रतीक है। हिन्दू परिपाटी में

प्रत्येक देवता के तीन रूप हैं। उनका स्थूल रूप आध्यात्मिक भावनाओं का भी सूचक है। और उनमें बड़ी ही सुसंगत रीति से आन्तर और वाह्य भावनाओं का निर्वाह किया गया है।

शिव का यह वेष 'विश्वास' की समग्र व्याख्या है। दूल्हे का नाम लेते ही हमारे नेत्रों के समक्ष एक मनोरम वस्त्राभूषण सुसज्जित रूप आ जाता है। पर इस दूल्हे का वेष तो हमारी सारी कल्पनाओं को चूर कर देता है। इसीलिए इस बारात की अगवानी में गये हुए बालक संत्रस्त होकर लौट आते हैं। बड़े भी किसी प्रकार धैर्य धारण करके ही वहाँ रह सके। गोस्वामीजी भाग आनेवालों के लिए "बालक" शब्द का प्रयोग करते हैं और रुके रहनेवालों के लिए 'सयाने' शब्द का।

धरि धीरज तहं रहे सयाने। बालक सब लै जीव पराने।।

सयाने केवल अवस्था का ही सूचक नहीं है। यहाँ बालक से अविवेकी और और सयाने शब्द से विवेक युक्त का भी संकेत किया गया है।

वस्तुतः भगवान शिव का रूप समझ पाना अत्यधिक कठिन है। स्वयं पार्वती की माता भी इस दूल्हे को देखकर अपना धैर्य खो बैठती हैं। स्वागत के लिए सजाई गई आरती लौटा ली जाती है और बिना किसी भी स्वागत के दूल्हे को लौट आना पड़ता है। इतना ही नहीं; मैना विलाप करते हुए अपना दृढ़ निश्चय व्यक्त करती है, इस विवाह की अपेक्षा आत्म-घात श्रेष्ठ है। गोस्वामी जी ने इस प्रसंग का बड़ा ही सजीव चित्र मानस में उपस्थित किया है :—

कंचन थार सोह बर पानी। परिछन चलीं हरहिं हरषानी।।
विकट वेष रुद्रहिं जब देखा। अबलन्ह उर भय भयउ विशेषा।।
भागि भवन बैठी अति त्रासा। गए महेश जहाँ जनवासा।।
मैना हृदय भयउ दुख भारी। लीन्ही बोलि गिरीश कुमारी।।
अधिक सनेह गोद बैठारी। श्याम सरोज नयन भरि बारी।।
जेहि विधि तुमहिं रूप अस दीन्हा। तेहि जड़ बर बाउर कस कीन्हा।।
कस कीन्ह विधि बौराह बर जेहि तुमहिं सुन्दरता दई।
जो फल चहिअ सुरतरुहिं सो बरबस बबूरहिं लागई।
तुम सहित गिरि ते गिरौं पावक जरौं जलनिधि महं परौं।
घर जाउ अपयश होउ जग जीवत विवाह न हौं करौं।

फिर हठात् उनका क्रोध नारद पर उमड़ पड़ता है। उन्हीं की शिक्षा से पार्वती को तय करना पड़ा, वह भी इस पागल अमंगल मूर्ति को पति रूप मे पाने के लिए। सचमुच वह ऊपर से सज्जन से दिखाई देने पर

भी कपटी हैं। अपने ही समान औरों को भी भिक्षुक और गृह-हीन बनाना चाहते हैं।

नारद कर मैं काह बिगारा। भवन मोर जिन्ह बसत उजारा।।
सांचेहु उनके मोह न माया। उदासीन धन धाम न जाया।।
पर घर घालक लाज न भीरा। बांझ कि जान प्रसव की पीरा।।

इस सारे प्रसंग का एक ही उद्देश्य है। विश्वास की प्राप्ति और उसकी पहिचान कितनी कठिन है? अचल हिमालय की पत्नी भी डिग जाती हैं। घर आये हुए विश्वास को लौटा देती हैं। चारों ओर करुणा व्याप्त हो जाती है। क्यों? विश्वास का स्वरूप न जानने के कारण। विश्वास उनकी मानस-कल्पना के ठीक प्रतिकूल निकला। विश्वास का वास्तविक रूप समझ लेना चाहिए, तभी हम उसे निकट से प्राप्त करने के अधिकारी हो सकते हैं।

आइए, विश्वास का स्वरूप समझने की चेष्टा करें। क्योंकि जो समस्या मैना के सामने आयी, वह सार्वजनिक और सार्वकालिक है। विश्वास की महता सुनकर अधिकांश व्यक्तियों के हृदय में बड़ा ही मधुर चित्र आता है। और जब वास्तविकता का सामना होता है, तब हम रोते और सिर पीटते हैं। विश्वास को व्यर्थ समझकर उसे कोसते हैं।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि विश्वास कोई कल्पित वस्तु नहीं है, जो सच को झूठ और झूठ को सच बना देती हो। यथार्थ को जानना ज्ञान और उस ज्ञान में स्थित हो जाना ही विश्वास है।

इसलिए झूठी कल्पनाओं को विश्वास का नाम देना विश्वास-तत्व की अनभिज्ञता का सूचक है। विश्वास हमारी कल्पनाओं और कामनाओं का पूरक भी हो सकता है और ध्वंसक भी। विश्वास कोई जड़ वस्तु नहीं है जिसको हम अपनी इच्छा के अनुकूल संचालित करें। वह स्वयं सचेतन है। विश्वास को स्वयं के द्वारा संचालित करने के स्थान पर हमें अपने आप को उसके द्वारा संचालित होने देना चाहिए। बहुधा विश्वास शब्द का अर्थ बड़े ही भ्रामक रूप में प्रचलित है। कहा जाता है, विश्वास के द्वारा क्या नहीं पाया जा सकता? बात बिल्कुल सही है। विश्वास सर्व-समर्थ है, पर इससे सब कुछ पाया जा सकता है; यह गलत है। सब कुछ देने की क्षमता होते हुए भी वह वही देगा; जिसे उचित समझेगा। विश्वास देता; भी है और छीनता भी है। पर भक्त-गाथा के कामना-पूर्ति वाले चामत्कारिक अंशों ने लोगों की भावना को इतना अभिभूत कर लिया है कि वे विश्वास के आधार पर उन्हीं घटनाओं की पुनरावृत्ति चाहते हैं। कहना चाहिए कि वे 'विश्वास'

को किसी प्रयास और पुरुषार्थ के बिना ही सब कुछ देने वाला जादू का पिटारा समझते हैं और जब इसमें सफलता नहीं मिलती तो संशयालु और नास्तिक हो जाते हैं। इस तरह 'विश्वास' आलसियों के लिए उनके आलस्य का सहायक बन जाता है; जो विश्वास के आधार पर सब कुछ पा लेना चाहते हैं। और तब ऐसे लोगों को देख कर बुद्धिवादी लोगों के हृदय में विश्वास के साथ अन्ध शब्द लगाने की इच्छा होती है और वे इसकी आलोचना करते हैं। एक दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि विश्वास का अर्थ समझने में कितनी बड़ी भूल होती है। एक मनुष्य के हृदय में कोई कामना उत्पन्न होती है और वह विश्वास करता है कि भगवान इस कामना को अवश्य पूर्ण करेंगे। तो क्या यह विश्वास का सही रूप है? और क्या उसकी कामना पूर्ण होना निश्चित है? थोड़ा भी ध्यान से सोचने पर इस विश्वास का खोखलापन सिद्ध हो जायगा। प्रश्न यह है कि उसका विश्वास किस पर है? कामना के पूर्ण होने पर या कामना की पूर्ति करने वाले ईश्वर पर। यदि वह दोनों पर कहता है तो झूठ है; क्योंकि यह संभव नहीं है। विश्वास उसे एक पर करना है। यदि वह विश्वास करता है कि सर्वशक्तिमान भगवान हैं; तो ठीक है। पर उसके बाद कामना पूर्ण होगी या नहीं? इसका निर्णायक उसी को मानना पड़ेगा और तब यह कहना व्यर्थ है कि कामना पूरी होगी ही। और यदि उसे यह विश्वास है कि मेरी कामना पूर्ण होगी; तब इसमें ईश्वर का कोई प्रश्न नहीं, यह तो उसके पुरुषार्थ पर निर्भर है और उसी की पूर्णता अपूर्णता पर उसका फल भी आधारित है। अतः यह उसकी भविष्य विषयक कल्पना है कि मेरी कामना पूर्ण होगी। इसे विश्वास का नाम देना व्यर्थ है। तभी तो मानस की चौपाइयों को आधार मानकर इस तरह की भ्रामक धारणाओं की पुष्टि की जाती है। यह चौपाई तो बहुत ही प्रचलित है :—

राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुराण साधु सुर साखी।।

इसको आधार मानकर प्रत्येक व्यक्ति यह सोचता है कि उसकी रुचि की रक्षा होगी। यह मानस के एकांगी अध्ययन का परिणाम है। जिस मानस में यह चौपाई है; उसी में ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जहाँ सेवक रुचि की रक्षा नहीं होती। देवर्षि नारद से बड़ा भक्त कौन हो सकता है, पर उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई। बल्कि उस प्रसंग के माध्यम से गोस्वामीजी ने इस समस्या पर भली प्रकार से प्रकाश डाला है कि 'रुचि' और 'हित' में विरोध होने पर भगवान कैसे 'रुचि' का तिरस्कार और 'हित' की रक्षा करते हैं।

देवर्षि नारद के हृदय में विश्व मोहिनी का सौन्दर्य देख कर उसे प्राप्त

करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। वे सोचते हैं, इसके लिए तो 'विशाल सौन्दर्य' की आवश्यकता है और वह प्राप्त हो सकता है भगवान विष्णु से। वे तो मेरे हितैषी और सहायक हैं, अतः उनसे यह वस्तु मिल सकती है। भगवान उनके समक्ष तत्काल प्रगट हो जाते हैं। हितैषी का पद स्वीकार कर लेते हैं, पर परिणाम में सौन्दर्य देना तो दूर, कुछ समय के लिए रहा सहा सौन्दर्य भी छीन कर कुरूप बना देते हैं। नारद अपनी समझ से पूर्ण विश्वस्त हैं कि उन्हें भगवान का सौन्दर्य प्राप्त है और इसी कल्पित विश्वास के आधार पर वे स्वयंवर सभा में सम्मिलित भी होते हैं। उनका दृढ़ निश्चय है 'मोहि तजि आनहिं वरहि न भोरे', पर उनका सारा विश्वास एक ओर रखा रह जाता है। स्वयं भगवान विश्वमोहिनी का वरण करके उसे ले जाते हैं। उसके बाद रुद्र गण (कुछ अनोखी बात है कि 'विश्वास' के ही गण वहाँ भी यथार्थ का संकेत करते हैं) का संकेत पाकर वे जल में अपना मुख देखते हैं और तब उन्हें आशय पर आघात होने से जो आवेश आता है, वह भगवान को शाप देकर ही शान्त होता है। नारदजी के चरित्र के माध्यम से यह बात स्पष्ट कर दी गई कि विश्वास को पहचानना कितना कठिन है। विशेष रूप से हमारी कामनाएँ उसे जैसा कल्पित रूप देती हैं, वैसा तो वह है ही नहीं। यही बात सिद्ध होती है, भगवान शिव के स्वरूप और शृंगार से भी। विश्वास में अमृतत्व की कल्पना करके उसे पाने की आकांक्षा तो प्रत्येक कर सकता है; पर उसके अंग २ में जो विष पूरित भुजंग है, उसे न चाहने पर भी हमें वह मिल सकता है। उसके मस्तक पर शीतल चन्द्रमा है; जो अपनी शीतलता से ज्वाला का उप शमन करता है, किन्तु उनके तृतीय नेत्र की ज्वाला से प्रलय भी हो जाता है। अतः आवश्यकता इस बात की है; जब वह कभी अपने विकट वेष का दर्शन दे; तब भी हम उसका स्वागत कर सकें, क्योंकि शिव के साथ वह रुद्र भी है।

उसके कण्ठ का नील गरल उसके अमरत्व की सूचना देता है पर उसके कण्ठ से नश्वर मुण्ड की माला विश्व की नश्वरता क चित्र भी उपस्थित करती है। बहुधा जीवन में झूठे सुख का रसास्वादन करने के लिए हम सत्य की ओर से आँखें मूँदे रहना चाहते हैं। एक कल्पित स्वप्नलोक का निर्माण करके हम अपने आप को धोखा देते हैं। मानस का 'विश्वास' उस यथार्थ को हमारे सामने निस्संकोच रूप में उपस्थित कर देता है। विवाह के मांगलिक अवसर पर भी अमंगल वेष में ही द्वार पर उपस्थित होते हैं। क्योंकि वह मंगल की कल्पित भावना पर प्रहार करना चाहता है। वह मंगल जो वाह्य वेषभूषा और किन्हीं वाह्य वस्तुओं पर आधारित

है और छोटी सी घटना या वस्तु से ही संत्रस्त हो उठता है, क्या वह मंगल कहा जाने योग्य है? वह तो मंगल के नित्य रूप को ही हमारे सामने रखते हैं। इसीलिए गोस्वामीजी के शब्दों में वे 'अशिव वेष शिव धाम कृपाला' हैं। जिसके कण्ठ में मुण्डमाल है, उसे देखकर कृपालु होने की कल्पना नहीं होती। पर कृपा केवल सृजन में ही नहीं संहार में भी है। यह मुण्डमाल उसका साक्षी है। उसके गणों के रूप में भूत प्रेतों को देख कर यह सोचना भी कठिन हो जाता है कि वह मुक्ति का वितरण करने वाला है। तो क्या वह अन्यों को मुक्ति देकर अपने गणों को ही प्रेत पिशाच योनि में बाँधे रखना चाहता है? सत्य तो यह है कि वे गण मुक्ति के अधिकारी होते हुए भी सेवा के लिए अपने आप को इसी रूप में प्रस्तुत रखते हैं। उनके लिए मुक्ति और बद्धता की धारणाएँ समान हो चुकी हैं।

इसलिए मानस का विश्वास हमें अन्धा नहीं; अपितु उस सीमा तक वास्तविकता का दर्शन कराना चाहता है, जिसको देख कर एक बार दुर्बल हृदय वाला कौन कहे सबल भी आँख मूद ले। पर एक बार जिसने इस रूप को पहचान लिया, उसके लिए कहीं अमंगल शेष नहीं रहा। वह शोक मोह से रहित हो जाता है। स्वभावतः मैना इस आघात से विचलित हो जाती है। किन्तु उसी समय सप्तर्षि और नारद सम्मिलित रूप से उनके निकट आकर भ्रम का निवारण करते हैं। पार्वती और शिव के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हैं। यहाँ श्रद्धा विश्वास के सम्बन्ध पर बड़ी सुन्दर रीति से प्रकाश डाला गया है। कभी कभी यह प्रश्न किया जाता है कि श्रद्धा और विश्वास में क्या अन्तर है? और क्या सम्बन्ध है?

मैना सत्य सुनहु मम बानी। जगदम्बा तव सुता भवानी।।
अजा अनादि शक्ति अविनाशिनि। सदा शम्भु अरधंग निवासिनि।।
जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि।।

वस्तुतः शिव पार्वती शक्तिमान और शक्ति हैं, इस दृष्टि से अभिन्न हैं। श्रद्धा और विश्वास भी तत्वतः अभिन्न हैं। फिर भी; जैसा हम उन्हें दो रूपों में देखते हैं, वही स्थिति श्रद्धा विश्वास की है। पर व्यावहारिक दृष्टि से कहें तो श्रद्धा पहले विश्वास बाद में। यद्यपि विश्वास के बिना श्रद्धा भी संभव नहीं। इस दृष्टि से अन्योन्याश्रित भी है। श्रद्धा साधना का श्रीगणेश है और विश्वास उसकी चरम स्थिति। इस तरह समस्त साधन-तत्व श्रद्धा विश्वास के मध्य में ही निहित हैं। श्रद्धा होने के नाते क्रिया की प्रेरक भी वही है और सृजन भी उसी के द्वारा होता है।

ज्ञान दीपक के प्रसंग में श्रद्धा को धेनु कहा गया है, वहाँ भी वह प्रथम वस्तु है और विश्वास को दुग्ध का पात्र, जिसके बिना साधन फल गृहीत नहीं हो सकता।

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। .. ..

नोइ निवृत्ति पात्र विश्वासा। .. ..

अन्यत्र भी श्रद्धा का स्मरण पहले होता है। सन्त सभा को अमराई के रूप में लिखने के बाद गोस्वामी जी ने सर्वप्रथम श्रद्धा का वसन्त ऋतु के रूप में स्मरण किया।

सन्त सभा चहुंदिशि अमराई। श्रद्धा ऋतु बसन्त सम गाई।।

अतः पार्वती को शिव के देने न देने का प्रश्न ही नहीं उठता है। वह तो उनकी वस्तु है, अभिन्न है। मैना के लिए यह मोह भी कल्याणकारी हुआ। वे पार्वती को अपनी कन्या के रूप में ही देखती आई थीं। पर अब उनके समक्ष एक नवीन सत्य का उद्‌घाटन हुआ। उमा जगदम्बा है। वे तो लीला मात्र के लिए शरीर ग्रहण करने के लिए किसी को माँ के रूप में स्वीकार कर लेती हैं। यह उनकी अनुकम्पा है। तात्पर्य यह कि व्यावहारिक दृष्टि से बुद्धि में श्रद्धा का उदय होने पर भी पारमार्थिक दृष्टि से श्रद्धा ही सृष्टि का मूल कारण है। अतः बुद्धि श्रद्धा का निर्माण संभव नहीं है। मैना बुद्धि की प्रतीक हैं और हिमवान विचार के। सूक्ष्म दृष्टि से विचार बुद्धि दोनों ही श्रद्धा की देन हैं, अतः सप्तर्षियों के द्वारा इस सत्य का उद्‌घाटन होने पर हिमवान और मैना पुत्री के चरणों की वन्दना करते हैं।

सुनि मैना हिमवन्त अनन्दे। पुनि पुनि पारबती पद बन्दे।।

शोक आनन्द के रूप में बदल गया। अधिकांश व्यक्तियों के जीवन में ऐसे कठिन अवसर आते हैं, जब प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले अमंगल से बुद्धि विचलित हो जाती है। पर यदि सत्संग और महापुरुषों की कृपा प्राप्त हो तो यह विचलन क्षणिक ही होता है।

विवाह बड़े ही आह्लादपूर्ण वातावरण में सम्पन्न हुआ। पार्वती शिव विवाह पश्चात् कैलाश शिखर पर लौट आते हैं और कुछ काल के पश्चात् षट वदन का जन्म होता है, जो देवताओं के सेनापति होकर तारकासुर का संहार करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से यह षट् वदन, साधना की षट्-संपत्ति के प्रतीक हैं। जब श्रद्धा-विश्वास से सम्पन्न षट्-सम्पत्ति वाला साधक साधना करता है, तब संशय का समग्र उच्छिन्न हो जाता है। इस तरह तारकासुर का संहार सम्पन्न होता है।

मानस का प्राकट्य

पर मानस की दृष्टि में तो श्रद्धा-विश्वास के सम्मिलन से जिस वस्तु का प्राकट्य हुआ, वह है दिव्य 'मानस'। भगवान शिव के हृदय में राम चरित मानस स्थित है। विश्व के सार्वकालिक कल्याण के लिए उसका प्राकट्य अपेक्षित है। उसे प्रकट कराने का श्रेय मिलता है भगवती पार्वती को।

भगवत्कथा को प्रभु का वाङ्मय विग्रह मानते हैं। भगवान के चार विग्रह भक्ति शास्त्र में मान्य हैं। नाम, रूप, लीला और धाम। कथा विग्रह की विलक्षणता यही है कि उसमें प्रत्येक विग्रह का महत्व कथित है। इसलिए भगवत्तत्व का ठीक ज्ञान होने के लिए इसका आश्रय सभी को लेना पड़ता है। इतना ही नहीं, मानस में एक विलक्षण तथ्य भी सामने आता है। मानस में ऐसे अनेक पात्र हैं; जिन्हें भगवान की प्रत्यक्ष लीलाओं के दर्शन से मोह होता है और कथा सुन कर उस मोह का निवारण। स्वयं पार्वती सती के रूप में इसकी ज्वलन्त उदाहरण हैं और यह एक युक्ति संगत बात है। किसी भी वस्तु के प्रति आदर उसके जान लेने पर ही हुआ करता है। न ज्ञात होने पर हीरे को भी काँच समझ कर ठुकराया जा सकता है। अवतार काल में भगवान भी एक साधारण मनुष्य के समान ही व्यवहार करते हैं। अतः जब तक उनके भगवान होने का बोध न हो तब तक उनकी क्रिया से मोह ही उत्पल हो सकता है। इसलिए क्रमानुकूल 'ज्ञान' प्रथम सोपान है। वस्तुतः भक्ति का युक्ति-संगत क्रम वही है, जिसका प्रतिपादन काग भुसुण्डिजी द्वारा उत्तरकाण्ड में किया जाता है।

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होई नहीं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

सत्संग को अत्यधिक महत्व इसी दृष्टि से दिया जाता है, क्योंकि वहाँ ज्ञान प्राप्ति का हेतु है।

स्वयं पार्वती का सती रूप में मोह राम को रुदन करते हुए देखने के पूर्व भी एक इतिहास रखता है। क्योंकि उस मोह के अंकुर का बीज वहीं पड़ जाता है। घटना क्रम इस रूप में है—

एक बार त्रेता युग माहीं। शम्भु गए कुम्भज ऋषि पाहीं॥
संग सती जग जननि भवानी। पूजेउ ऋषि अखिलेश्वर जानी॥
राम कथा मुनि वर्य बखानी। सुनि महेश परम सुख मानी॥
ऋषि पूछी हरि भगति सुहाई। कही शंभु अधिकारी पाई॥

कहत सुनत रघुपति गुन गाथा। कछु दिन तहां रहे गिरिनाथा॥
मुनि सन बिदा मांगि त्रिपुरारी। चले भवन संग दच्छ कुमारी॥

इस यात्रा में ही सती को मोह होता है और उसका रहस्य छिपा हुआ है उपरोक्त पंक्तियों में।

अगस्त और शिव में कथा और भक्ति का जो दिव्य आदान-प्रदान हुआ उसमें सती भाग नहीं लेती हैं। इसीलिए गोस्वामी जी 'सुनि महेश परम सुख मानी' इस शब्द का प्रयोग करते हैं। यदि वे भगवच्चरित्र श्रवण में भाग लेतीं; तब तो स्वाभाविक रूप से आगे दिखाई देनेवाली घटना की पृष्ठ भूमि को समझ लेतीं और यदि संशय होता भी; तो वहीं वार्तालाप से उसे दूर करने की चेष्टा की जाती। तव वे 'राम को नृप तनय' भी मान पातीं। किन्तु किसी भी कारण से हो, उन्होंने इस अद्वितीय सत्संग में रस नहीं लिया।

गोस्वामीजी ने अपने साहित्य के द्वारा भी इसे शाब्दिक अवहेलना से व्यक्त किया है। जब वे भगवान शिव के साथ सत्संग के लिए चलीं; तव कवि उनकी सराहना अनेक शब्दों से करता है—'संग सती जग जननि भवानी' और कथा की अवहेलना करते ही भक्त कवि की दृष्टि में उनका सारा महत्व समाप्त हो जाता है। इसीलिए चलते समय भगवान शिव से सम्बन्धित उनके नामों को हटा कर अभिमानी दक्ष की कन्या के रूप में स्मरण करता है :—

चले भवन संग दच्छ कुमारी। .. ..

और इस ज्ञान के अनादर का परिणाम मोह और अन्त में शिव द्वारा त्याग के रूप में होता है। फिर पार्वती रूप ग्रहण और भगवान शिव की प्राप्ति के पश्चात् वे अपनी उस पुरानी भूल को परिमार्जन करने का प्रयास करती हैं। सच तो यह है कि उन्हें निमित्त बना कर राम-कथा की धारा विश्व में नव-रूप में प्रवाहित होती है। भगवान शिव के हृदय में छिपे हुए मानस को लोक-कल्याण के लिए प्रकाशित करा देने का समग्र श्रेय शैलजा को ही है।

कोई भी महापुरुष अपने विचारों को अधिकारी के समक्ष ही प्रगट करता है। अधिकारी में दो परस्पर विरोधी बातों का एक साथ समन्वय होना चाहिए। जिसे किसी प्रकार का भ्रम या मोह हुआ है, उसी को समझने की आवश्यकता है। मोह भ्रम तो अनेक लोगों को होता है किन्तु उनके अन्तः करण की मलिनता देखकर महापुरुष उस तत्व को उनके सामने प्रगट नहीं करते। उसके लिए श्रद्धामय पवित्र अन्तःकरण की आवश्यकता

है। अतः श्रद्धामय हृदय संशय-युक्त हो तभी तत्व प्राकट्य संभव है। इसीलिए भक्त-हृदय में भी उत्पन्न होने वाला भ्रम वस्तुतः लोक-कल्याण का हेतु बन जाता है। गीता के प्राकट्य को ही ले लें। न जाने कितने व्यक्ति अपने कर्त्तव्य-कर्म से विमुख होते रहते हैं, किन्तु उनको कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ करने की चिन्ता भगवान को कब होती है ? और कहाँ उनके लिए गीता ज्ञान का प्राकट्य होता है ? वह तो अर्जुन जैसे अभिन्न मित्र, भक्त और शिष्य के लिए ही प्रगट हो सकती थी। पर उसकी उसे आवश्यकता भी क्या थी ? इसीलिए मानो वह क्षण भर के लिए कर्त्तव्य पथ से विचलित दिखाई देता है और तव उसे निमित्त बना कर वह महातत्व आविर्भूत होता है, जो बाद में सर्व साधारण के लिए सुलभ हो सका।

भक्त का प्रत्येक भ्रम हमारे समक्ष किसी नए रहस्य का उद्घाटन करने के लिए होता है, इसीलिए उसे भगवत्प्रेरित माना जाता है। मानस के उत्तर कांड में काग भुसुण्डिजी द्वारा यही व्याख्या की गई है।

श्री गरुड़ को वे अपना संस्मरण सुनाते हुए कहते हैं कि 'भगवान राम की बाल लीला देख कर मुझे भ्रम हो गया 'कवन चरित्र करत प्रभु चिदानन्द सन्दोह'। फिर क्या था, क्षण भर में ही मेरा मन माया से आवृत हो जाता है। यहाँ स्वाभाविक संशय होता है कि फिर एक भक्त में और संसारी में अन्तर ही क्या ? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने माया के दो भेद किया और बताया कि सांसारिक व्यक्ति अविद्या माया के द्वारा ग्रस्त है और भक्त में यही कार्य विद्या माया के द्वारा होता है। पहिले का परिणाम है दुःख और दूसरे का भक्ति की अभिवृद्धि।

हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या।।
ताते नाश न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगवर।।

विद्या, अविद्या माया का विश्लेषण बड़े विस्तार की अपेक्षा रखता है, पर एक उदाहरण के द्वारा इसे कुछ स्पष्ट किया जा सकता है। एक व्यक्ति के पुत्र की मृत्यु हो जाती है और वह उसके दुख में विलाप कर रहा है। दूसरी ओर एक अभिनेता नाट्यशाला के स्वामी की आज्ञा से लोक-शिक्षण के लिए रंगमंच पर पुत्र के लिए विलाप करता हुआ दिखाई देता है। विलाप और आँसू का साम्य होते हुए भी प्रेरणा और परिणाम दोनों का सर्वथा भिन्न है। एक का कार्य अविवेक मूलक और परिणाम में दुखद है और दूसरे का नाटचशाला के स्वामी से प्रेरित और परिणाम में पुरस्कार दिलाने वाला है।

अतः सत्य तो यह है कि सती मोह लोक-कल्याण के हेतु ही हुआ।

इसका एक मार्मिक संकेत तब मिलता है, जब सतीजी प्रभु की परीक्षा लेने के पश्चात् लौट कर भगवान शिव से झूठ बोल जाती हैं। कितनी आश्चर्यजनक बात है, अभी अभी भगवान राम के ऐश्वर्य का दर्शन करके आ रही हैं और शिव की सर्वज्ञता का तो उन्हें पूर्ण निश्चय ही था, फिर भी असत्य बोलना क्या अर्थ रखता है ? भगवान शिव परम तत्वज्ञ हैं अतः इसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से प्रभु की माया का हाथ देखा।

बहुरि राम मायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ कहावा।।

भगवान शिव ने प्रभु की माया को प्रणाम किया। जिसकी प्रेरणा से सती झूठ बोलती हैं। इसका अभिप्राय ही है कि यद्यपि इस घटना का फलितार्थ तत्काल अत्यन्त कष्टकारक प्रतीत होता है किन्तु भविष्य में उसके द्वारा 'महान कार्य' सम्पन्न होना है। 'मानस' का प्राकट्य करने के लिए जिस 'श्रद्धा' की आवश्यकता थी, उसका निर्माण इसी तरह संभव था। बिना श्रद्धा के मानस का अधिकारी होना असंभव है। राम कथा तो विविध रूपों में प्रचलित ही थी। किन्तु भगवान शिव 'मानस' का निर्माण करते हैं, वह कई अर्थों में भिन्न है।

'रचि महेश निज मानस राखा' इस काव्य पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए। क्योंकि जहाँ तक घटनाओं का सम्बन्ध है, वह तो स्थूल रूप में घट चुकी है। उनके निर्णय का तो कोई प्रश्न उठता ही नहीं है। यों तो घटनाओं में भी यत्र तत्र कुछ अन्तर है किन्तु देखने का दृष्टिकोण बिल्कुल ही अलग प्रकार का है। इतिहास में घटनाओं का जिस रूप में वर्णन किया जाता है और घटनाओं के जिन पहलुओं को अत्यधिक महत्व दिया जाता है, मानस में उसका अभाव है। इतिहास के लिए घटनाएँ संस्मरण हैं; जिन में हम किसी महान पुरुष के चरित्र और उसके उत्कृष्ट कार्यों का वर्णन पढ़ते हैं। भूतकाल की झाँकी प्रस्तुत करना उसका उद्देश्य है।

वाल्मीकि रामायण में इसी पक्ष का प्राधान्य है। पर शिव का यह 'मानस' वाह्य की अपेक्षा अन्तर को अधिक महत्व देता है। वह मनुष्य की मानसिक समस्याओं का शाश्वत समाधान है। वह इतिहास से भी बढ़ कर कुछ और है। इतिहास का कहना—और सुनना सरल कार्य है। पर 'मानस' तो एक विशेष मनस्थिति में ही समझा जा सकता है।

उसमें साहित्यिक वैशिष्ट्य होते हुए भी उसका प्राधान्य नहीं है, वहाँ स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि साहित्य एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति का साधन मात्र है और जहाँ साहित्यिक रस उद्देश्य में बाधक बनता दिखाई देता है, वह उसका त्याग करने में संकोच नहीं करता। यदि राम जानकीजी

के वियोग में व्याकुल होकर विलाप कर रहे हैं, तो उसका उद्देश्य अपनी कला के द्वारा पाठक को करुणायुक्त बना कर रुला देना मात्र नहीं है। वहाँ तो विलाप के चरम उत्कर्ष में भी यह स्मरण दिला दिया जाता है कि यह तो नर नाट्य मात्र है; जिसके द्वारा जीव को वैराग्य का सन्देश दे रहे हैं।

एहि बिधि बिलपत खोजत स्वामी। मनहु महा बिरही अति कामी।।
पूरण काम राम सुख रासी। मनुज चरित कर अज अविनासी।।

.. ..

कामिन के दीनता देखाई। जोगिन्ह के मन विरति दृढ़ाई।।

यहीं नहीं, अन्यत्र भी ऐसे प्रसंगों में इसी प्रकार स्मरण दिलाया जाता है। रस परिपाक की दृष्टि से इससे अधिक कोई बुरी बात नहीं हो सकती। किन्तु रचयिता का उद्देश्य जिस विशेष सन्देश को देना है, उसमें वह रस परिपाक को उसी सीमा तक स्वीकार करता है; जिस में वह उद्देश्य को तिरोहित न कर दे।

इसी प्रकार न तो युद्ध वर्णन में अस्त्र शस्त्रों का विशाल वर्णन है और न तो वर्ष मास तिथियों का उल्लेख। समुद्र उल्लंघन के समय हनुमानजी और समुद्र का जो विलक्षण वर्णन वाल्मीकि रामायण में है, उसका भी यहाँ अभाव है। किन्तु भावात्मक पक्ष का वर्णन आते ही; जिसका सम्बन्ध भक्ति से होता है, वर्णन विस्तृत हो जाता है। यह भी एक महत्वपूर्ण संकेत है कि इसका सृजन शिव के मानस में हुआ और कवि भी उसे भाषा-बद्ध करने का संकल्प अपने हित या मन को प्रबोधन देने के लिए करता है।

भाषा बद्ध करब में सोई। मोरे हिय प्रबोध जेहि होई।।

अनुवादक कवि सारी कथा में अपने मन को ही श्रोता के रूप में सम्बोधित करता है।

दीप शिखा सम युवति जन, मन जनि होसि पतंग।

.. ..

तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि सन्तन सठ मना।

इस तरह शिव के 'मानस' को कवि अपने मन में उतारने का प्रयास करता है। जब तक 'मानस' के इस महत्वपूर्ण पक्ष पर अध्येता ध्यान नहीं देंगे, तब तक गोस्वामी जी का दृष्टिकोण सच्चे अर्थों में हृदयंगम नहीं किया जा सकता। वे अपनी मान्यताओं को ही गोस्वामीजी पर आरोपित कर लेंगे। इसीलिए इस मानस तक पहुँचने के लिए कवि जिन वस्तुओं को महत्व देता है, वह कोई भाषा का पाण्डित्य या अध्ययन जैसी वस्तुएँ नहीं।

उसकी दृष्टि में मानस तक पहुँचने के लिए तीन गुण चाहिए। श्रद्धा, सत्संग, और भगवत्प्रेम। इनके अभाव में वह मानस को अगम बताता है।

जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं सन्तन कर साथ।
तिन कहं मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥

ये साधन ही स्पष्ट रूप से यह संकेत करते हैं कि मानस की रचना और उसका उद्देश्य इतिहास और साहित्य से भिन्न वस्तु है।

इसी बात को कवि एक दूसरे रूप में हमारे समक्ष रखता है। मानस के चार श्रोताओं में से एक भरद्वाज हैं, जिन्होंने महर्षि याज्ञवल्क्य से 'राम' के विषय में जिज्ञासा की। किन्तु उत्तरदाता ने इसके पहले विस्तार से 'शिव चरित्र' का वर्णन किया, जिसकी एक झाँकी पहले प्रस्तुत की गई है। यह एक अटपटी बात लगती है और स्वयं वक्ता को भी इस असंगति का ध्यान है, इसीलिए वह शिव कथा के पश्चात वह कारण बताता है, जिससे प्रेरित होकर वे राम कथा के स्थान पर शिव कथा सुनाने लग जाते हैं। उन्होंने कहा कि मैं यह जानना चाहता था कि तुम राम कथा के अधिकारी हो या नहीं। अतः शिव चरित्र की कसौटी पर मैंने तुम्हें परखने की चेष्टा की। जिन्हें शिव और शिव चरित्र से प्रेम नहीं है, वे राम कथा के अधिकारी नहीं।

भौतिक दृष्टि से तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि राम कथा से पूर्व मानस का जिन परिस्थितियों में प्रकथन हुआ, उसका वर्णन वे विस्तार से करते हैं। पर उनके उपरोक्त वाक्य के प्रकाश में देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका उद्देश्य और भी गम्भीर है। इसे यों भी कह सकते हैं कि शिव ही मानस के रचयिता हैं, यदि उनके प्रति स्नेह नहीं है तो उनकी बातें प्रिय कैसे लग सकती हैं? पर आध्यात्मिक दृष्टि से इसका अभिप्राय यह है कि पार्वती और शंकर श्रद्धा विश्वास के प्रतीक हैं, यदि अन्तःकरण श्रद्धा विश्वास विहीन है, तो वह भगवत्तत्व को समझने और ग्रहण करने योग्य कैसे हो सकता है?

विचार करने पर यह बात सरलता से हृदयंगम की जा सकती है। मानस में यदि राम का एक महापुरुष के रूप में चित्रण किया जाता तो ऐसी किसी शर्त की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु उनका ईश्वर के रूप में चित्रण करते ही बौद्धिक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। ईश्वर की सत्ता और फिर उसका निर्गुण निराकार से सगुण-साकार होना, मनुष्य के समान व्यवहार करना सरलता से समझने वाली वस्तुएँ नहीं हैं। केवल बौद्धिक दृष्टि से उसे समझ पाना सम्भव है क्या? इसका उत्तर नकारात्मक ही देना

होगा । केवल बौद्धिक तर्कों से इसे हृदयंगम करना संभव होता तो सती रूप में भगवान शिव के तर्कों से भ्रम का निराकरण हो जाता । किन्तु ऐसा न होना ही सिद्ध करता है कि इसके लिए कुछ अन्य वस्तुओं की भी आवश्यकता है और वे हैं श्रद्धा और विश्वास ।

मान लें, हम किसी व्यक्ति के मुख से ऐसी बातें सुनते हैं, जो अविश्वस्त सी जान पड़ती हैं और जिसके विषय में वर्णन किया गया है, वह वहाँ उपस्थित नहीं है, तब इसकी उपयुक्त पद्धति क्या है ? केवल तर्क वितर्क से कुछ बनने का नहीं क्योंकि तर्क सत्य का नहीं अपितु तर्क करने वाले की योग्यता और तर्क शक्ति का सूचक है । तब यही संभव है कि हम कहने वाले व्यक्ति की विश्वस्तता को समझने की चेष्टा करें । यदि उसकी विश्वस्तता सिद्ध हो जाती है तो कम से कम उसके बताए पथ पर चल कर हम वस्तु की विश्वस्तता का भी अनुभव कर सकते हैं । यही वह युक्ति-संगत मार्ग था जिस पर प्राचीन काल की गुरु शिष्य परम्परा आधारित है। पहले शिष्य भगवान के स्थान पर जो परोक्ष है किसी ऐसे व्यक्ति की खोज करता है जो प्रत्यक्ष हो और जो पूर्ण विश्वस्त हो । उसके बाद गुरु के बताए गए पथ से चल कर भगवतत्व का साक्षात्कार करता था । स्वयं की अपेक्षा न्यून शक्ति और सामर्थ्यवान का रहस्य तो हम बल बुद्धि से जान सकते हैं । पर जो अधिक शक्ति वाला है; जिसका रहस्य स्वेच्छा से उसके बताने पर ही जान सकते हैं, जिस ईश्वर को सर्वशक्तिमान कहा जाता है, उसे हम पुरुषार्थ और सीमित बुद्धि से कैसे जान सकते हैं । वह तो जब स्वयं जनावे तभी जाना जा सकता है । इसीलिए मानस में कहा गया—

जग पेखन तुम देखनि हारे । विधि हरि शम्भु नचावनि वारे ।।
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा । अउर तुमहिं को जाननि हारा ।।
सोइ जानहि जेहि देहु जनाई । जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई ।।

जानने की इच्छा प्रिय के प्रति ही होती है, इसीलिए भक्तों ने भगवत्प्रेम को इतना महत्व दिया है । भक्तों की शैली में कहें तो एक ऐसा काल आता है, जब भक्त प्रेम में डूब कर रहस्य जानने का भी अनिच्छुक हो जाता है । किन्तु तब स्वयं भगवान अपने आप प्रकट करने के लिए, अपना रहस्य बताने के लिए बेचैन हो जाते हैं । बलात् उसे मुक्ति का दान देते हैं ।

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं । अनइच्छित आवत बरिआई ।।

इन्हीं सब कारणों से श्रद्धा को इतना महत्व दिया गया है । राम चरित शिव के मानस में था । मानस को मन की बात कह लीजिये । मन की बात किससे की जाय ? क्या कोई अपने मन की बात चौराहे पर

खड़े होकर कहने लगता है? उसके लिए तो कोई अभिन्न जो उसे समझ सके, रस ले सके ऐसे की ही खोज की जाती है। इसीलिए तो शिव का मानस बहुत दिनों तक मन में ही गुप्त रहा। क्योंकि मन की बात सुनने योग्य कोई मिला ही नहीं। पार्वती को कथा सुनाते हुए एक प्रसंग में भगवान शंकर ने बड़ी मीठी चुटकी ली। राम जन्म का प्रसंग चल रहा था। उसमें शंकर ने अपनी एक चोरी का वर्णन किया। पार्वती की प्रसन्नता के साथ।

अउरउ एक कहउं निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी।।

चोरी की बात दृढ़ मति वाले को ही सुनायी जा सकती है? पर यहाँ एक व्यंग है। राम-जन्म के समय सती उनके साथ थीं, पर कैलाश शिखर से अयोध्या में राम-जन्म का उत्सव देखने के लिए आते समय शिव ने सती से यह बात छिपा ली। यह दृढ़-मति पूर्व रूप में अस्थिर मति सती की ओर भी संकेत करता है। "उस समय तुम्हारी बुद्धि चंचल थी" यह न कह कर वचन-रचना-नागर शिव ने यह कहा कि "अब तुम्हारी बुद्धि दृढ़ है इसीलिये यह चोरी बता रहा हूँ।"

अस्तु तारक-संहार के कुछ दिन पश्चात सती रूप में प्रारम्भ जिज्ञासा का स्रोत-जो इस बीच विच्छिन्न हो गया था पुनः प्रारम्भ होता है। भगवान भूतभावन शिव कैलाश शिखरस्थ वट वृक्ष के नीचे आसीन थे। पार्वती जी सुअवसर देखकर शिव के निकट उनके चरणों में प्रणाम करती हैं। गोस्वामीजी ने उस अवसर का बड़ा ही मार्मिक चित्रण मानस में किया है।

परम रम्य गिरिवर कैलासू। सदा जहाँ शिव उमा निवासू।।
सिद्ध तपोधन जोगिधन, सुर किन्नर मुनि वृन्द।
बसहिं वहाँ सुकृति सकल, सेवहिं शिव सुख कन्द।।
हरि हर विमुख धर्म रति नाहीं। ते नर सपनेहुं तहं नहिं जाहीं।।
तेहि गिरि पर वट विटप विशाला। नित नूतन सुन्दर सब काला।।
त्रिविध समीर सुशीतल छाया। सिव बिश्राम बिटप श्रुति गाया।।
एक बार तेहि तरु प्रभु गयऊ। तरुबिलोकि उर अति सुख भयऊ।।
निज कर डासि नाग रिपु छाला। बैठे सहजहिं शंभु कृपाला।।
कुन्द इन्दु दर गौर सरीरा। भुज प्रलम्ब परिधन मुनि चीरा।।
तरुन अरुन अंबुज सम चरना। नख दुति भगत हृदय तम हरना।।
भुजग भूति भूषण त्रिपुरारी। आनन सरत चन्द छवि हारी।।
जटा मुकुट सुर सरित सिर, लोचन नलिन विशाल।
नील कण्ठ लावण्य निधि, सोह बाल विधु भाल।।

बैठे सोह काम रिपु कैसे। धरे शरीर सान्त रस जैसे।।
पारबती भल अवसर जानी। गई शंभु पहं मातु भवानी।।

इस विस्तृत वर्णन का उद्देश्य 'मानस' के प्राकट्य के उपयुक्त देश काल पात्र को सूचित करना है। विवाह के पश्चात् समीप होते हुए भी जब तक उपयुक्त स्थिति नहीं आती, पार्वती अपनी जिज्ञासा प्रकट नहीं करती हैं। देश, काल, पात्र जितनी समान और एक स्थिति में होंगे उतना ही महत्त्वपूर्ण वस्तु के सृजन का सुअवसर होगा। मानस में इसीलिए ऐसा भी संकेत मिलता है कि इनमें से किसी में भी कमी होने पर उसे उपदेश से वंचित रहना पड़ता है। गरुड़ प्रसंग इसका सुन्दर उदाहरण है।

गरुड़ प्रभु को लंका के रणाङ्गण में मेघनाथ द्वारा बँधा देख कर मोह-पीड़ित हो जाते हैं और तब उसके समाधान के लिए वे अनेक लोगों के पास जाते हैं। पहले देवर्षि नारद, उसके बाद ब्रह्मा और तब शंकर। फिर कहीं काग भुसुण्डि के पास उनका समाधान होता है। विलक्षण बात यह है कि एक, दूसरे के पास जाने के लिए कहता है। यह तो स्पष्ट है कि उनकी जिज्ञासा का समाधान इनमें से प्रत्येक कर सकता था। प्रत्येक के पास अवकाश का भी अभाव नहीं था। फिर भी उत्तर देने से वे क्यों कतराते हैं? कारण है गरुड़ की कुछ त्रुटियाँ।

उत्तर देनेवाले के प्रति जब तक श्रोता के मन में आदर-भाव न हो तब तक उसकी बात का अपेक्षित परिणाम नहीं हो सकता। गरुड़ में स्वयं के प्रति महत्व बुद्धि है इसीलिए वे जब नारद अथवा ब्रह्मा के निकट जाते हैं, तब उनके प्रति उचित समादर नहीं दिखाते। शिष्टाचार के साधारण क्रम के अनुकूल भी उनका कर्त्तव्य था कि वे उन्हें प्रणाम करते। एक श्रोता और जिज्ञासु के रूप में तो यह आवश्यक धर्म था। किन्तु उन्होंने उसका पालन नहीं किया। वे पहुँच कर प्रश्न करते हैं। नारद अथवा ब्रह्मा के हृदय में प्रणाम कराने की कोई इच्छा नहीं है। फिर भी उनके इस व्यवहार से उन्हें ज्ञात हो गया, हमलोगों का उत्तर देना समीचीन न होगा। नारदजी ने ब्रह्मा के पास जाने का आदेश दिया और ब्रह्मा ने भगवान शिव के पास। भगवान शिव के निकट पहुँचकर अपनी त्रुटि का वे परिमार्जन कर लेते हैं। उनके चरणों में नमन करते हैं। स्वयं कथा-प्रसंग में भगवान शिव ने गरुड़ की इस प्रणति का वर्णन किया। वर्णन का उद्देश्य यही था कि पार्वती समझ सकें कि वह कौन-सी त्रुटि है, जिसके परिणाम में उन्हें जहाँ-तहाँ भटकना पड़ा और भटकने पर उनमें सद्बुद्धि का उदय हुआ। तीनों के प्रति उनके व्यवहार का अन्तर प्रस्तुत पंक्तियों में स्पष्ट है।

समुझै खग खग ही कर भाषा। ताते उमा गुप्त करि राखा॥
१—व्याकुल गयउ देव ऋषि पाहीं। कहेसि जो संशय निज मन माहीं॥
२—तब खगपति विरंचि पहं गयऊ। जिन सन्देह सुनावत भयऊ।
३—तेहि पद सादर सीस नवावा। तब आपन सन्देह सुनावा॥

भगवान शिव को प्रणाम न करने की भूल तो गरुड़ नहीं करते, फिर भी एक भूल हो जाती है। भगवान शिव उस समय मार्ग में चल रहे थे। ऐसी स्थिति में प्रश्न नहीं किया जाना चाहिए। इसीलिए भगवान शिव को कहना पड़ा—

मिलेउ गरुड़ मारग मंह मोंही। कवन भांति समुझावउं तोही॥
जब बहुकाल करिय सत्संगा। होइहि महा मोह कर भंगा॥

इस उदाहरण का तात्पर्य है कि जब तक समुचित वातावरण न हो, तब तक महत् वस्तु भी अपना प्रभाव पूरी तरह नहीं डाल सकती। इसीलिए गोस्वामीजी पार्वतीजी के प्रश्न के पूर्व सुन्दर शब्दों में कैलाश और वट वृक्ष का वर्णन करते हैं, फिर आचार्य का चित्रण करते हैं। वस्तुतः वह काल असाधारण महत्व का है, क्योंकि उसमें प्रभु के वाङमय विग्रह का अवतार होता है, जिसका महत्व प्रभु के रूप मय विग्रह की अपेक्षा भी अधिक है। क्योंकि वह जीव के अज्ञानान्धकार का नाश करके शाश्वती शान्ति का दान देता है।

बट वृक्ष हिन्दू धर्म में अद्वितीय स्थान रखता है। प्रलय काल में भी वह जिसका नाश नहीं मानता वह है 'अक्षय वट'। गोस्वामी जी ने इस वट को विश्वास का प्रतीक माना है।

बट विश्वास अचल निज धर्मा। तीरथ राज समाज सुकर्मा॥

भगवान शिव भी मूर्तिमान विश्वास ही हैं, इसीलिये वट उन्हें अत्यन्त प्रिय है। उनकी विश्राम-स्थली है। ऐसे वृक्ष की सुशीतल छाया और त्रिविध वायु जो मानो त्रिविधतापों का उपशमन करनेवाली है। ऐसे स्थल में मानस का प्रादुर्भाव मानो उसकी अक्षयता और जीव के समस्त विकारों का नाश होना सूचित करता है।

भगवान शिव भी आज विभिन्न प्रकार की मन-स्थिति में सहजासीन हैं। ऐसा लगता है, जैसे शान्त रस ही देह धारण कर वट वृक्ष के नीचे विराजमान हों। यों तो वे सर्वदा ही शान्तिमय हैं, पर इसके पूर्व उनकी एक विलक्षण लीला चल रही थी जो शृङ्गारमय थी।

करहिं विविध विधि भोग विलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा॥

वह स्थिति मानस प्राकट्य के अनुकूल नहीं थी और इसीलिए

पार्वती भी आज तक मौन थीं। आज वे पुनः सहज भाव में स्थित हो रहे हैं। यह सहज स्थिति ही मानस की प्रतिपाद्य सर्वश्रेष्ठ स्थिति है। भगवद्दर्शन के द्वारा भी इसी सहज स्वरूप की उपलब्धि होती है।

मम दर्शन फल परम अनूपा। जीव पाव जिन सहज सरूपा।।

चारों ओर शीतलता व्याप्त है। कैलाश शिखर स्वयं शीतल, वट-वृक्ष, शीतल चन्द्रमा, और गंगा की धारा भी शीतल। इस तरह यहाँ से जो दिव्य प्रकाश प्रकट होने जा रहा है, वह अज्ञानान्धकार का नाशक होने के साथ ही परम शीतल और आह्लादकारक होगा।

स्वयं की जिज्ञासा भावना के साथ ही पार्वती के अन्तःकरण में लोकहित की भावना भी मुख्य रूप से कार्य कर रही है।

कथा जो सकल लोक हित कारी। .. .. ..
सोई पूंछन चह शैल कुमारी। .. .. ..

स्वयं भगवान शिव भी इसकी पुष्टि करते हैं—

तदपि असंका कीन्हेउ सोई। कहत सुनत सब कर हित होई।।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रद्धा विश्वास के द्वारा जिस मानस का प्रादुर्भाव हुआ, उसका उद्देश्य 'सर्वजन हिताय' ही है। वह किसी सीमित देश, काल या व्यक्ति मात्र के लिए नहीं है। इसी वाक्य के प्रकाश में गोस्वामीजी के "स्वान्तः सुखाय" का अर्थ भी लेना चाहिए। इस वाक्य का प्रयोग बाहुल्य से प्रचलित है। पर स्वयं गोस्वामीजी के 'स्वान्तः सुखाय' शब्द की भावना से भिन्न रूप में ही उसका प्रयोग होता है। कभी-कभी तो समालोचना से बचने के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह स्वतः सुख के लिए लिखा गया है, अतः दूसरों को हस्तक्षेप का क्या अधिकार? कुछ ऐसी भावना कार्य करती है ऐसा कहने वालों में। स्वयं गोस्वामीजी का 'स्व' सर्वथा भिन्न प्रकार का है। यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि उपरोक्त प्रसंगों से पृथक् अन्यत्र भी गोस्वामीजी ने इस सर्वहित को ही महत्व दिया है। कविता की श्रेष्ठता की परिभाषा करते हुए वे इसी "सब कर हित होई" का स्मरण करते हैं।

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई।।

फिर भी, जब वे मानस निर्माण का उद्देश्य स्वान्तः सुखाय बताते हैं तो उनके दृष्टिकोण की गुरुता स्पष्ट हो जाती है।

सर्वप्रथम यह कि वह समाज को ऋणी कर उसकी कृतज्ञता पाने की चेष्टा नहीं करता। अपितु वह समाज को ऋण मुक्त कर देता है। वह जानता है कि इसके द्वारा सबका हित होगा फिर भी वह स्पष्ट कर देता है

कि मुझे इसका कोई श्रेय नहीं क्योंकि मैंने स्वान्तः सुखाय इसका निर्माण किया।

दूसरे महत्व की बात यह है कि जहाँ वस्तुगत सुख होता है, वहाँ स्व और पर का भेद अवश्यम्भावी है। वहाँ एक का सुख दूसरे का दुख बन जाता है। यही तो सामाजिक संघर्ष का कारण है। कवि जिस सुख की चर्चा करता है, वह वस्तु निरपेक्ष है। वह तो उस अक्षय सुख को सामने ले आता है, जो सबके लिए है। वहाँ स्व और सब एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। अतः मानस का स्वान्तः सुखाय और सबका हित एक ही वस्तु है।

समष्टि अहं

इस तरह भगवान शिव पार्वती के उस रूप की संक्षेप में चर्चा की गई, जो भक्तों का परमाराध्य और प्राण है। किन्तु शिव के द्वितीय रूप की चर्चा किये बिना यह अधूरा रह जायगा और एक संशय अवशिष्ट ही रह जायगा। पुराणों में यह बात बार-बार पढ़ने को मिलती है कि भगवान शिव के भक्तों में दैत्य और राक्षस भी हैं। यहाँ तक कि विष्णु के विरोधी भी शिव की आराधना करते हैं। मानस में रावण का चरित्र भी इसी की पुष्टि करता है। राम का प्रचण्ड शत्रु रावण शिव भक्त था, यह मानस और अनेक ग्रन्थों के विविध इतिहासों से सिद्ध होता है। यह एक बड़ी अटपटी और अप्रिय लगनेवाली बात है। क्योंकि मानस में भगवान राम की यह घोषणा भी है—

शंकर प्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महं बास।।

फिर भी हम शिव-भक्तों में ऐसे लोगों को देखते हैं जिससे यह सिद्धान्त अवास्तविक सा लगने लगता है। वे दैत्य राक्षसों को बड़े-बड़े वर क्यों दे देते हैं और कभी-कभी तो उनकी ओर से युद्ध के लिए भी आ जाते हैं? बाणासुर कृष्ण युद्ध में यही दृश्य दिखायी देता है! यह एक बुद्धि को चकरा देनेवाली बात है। यह दो विरोधी कार्य क्यों? क्या उनके व्यक्तित्व में भी द्वैत है? यत्र तत्र विष्णु परक पुराणों में शिव-निन्दा के वाक्य क्यों आते हैं? उनके पूजन में प्रसाद ग्रहण का निषेध क्यों है? यों तो इन सारे प्रश्नों का मानस से सम्बन्ध नहीं है, पर ये प्रश्न एक ही शृङ्खला की कड़ी हैं और एक ही उत्तर से सब प्रश्नों का समाधान हो सकता है। अगले पृष्ठों में हम इसी समस्या को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

आज के युग का संघर्ष प्रधान जीवन और राजनैतिक दृष्टिकोण का प्राधान्य, विचार की जो शैली प्रस्तुत कर रहा है, वह एक सीमा तक बड़ा ही भयावह है। आज की स्थितियों का ही प्रतिविम्ब वह इन सब वस्तुओं में देखकर आर्य द्राविड़ संघर्ष आदि का रूप दे देता है। राम और रावण के संघर्ष को भी न जाने कितने रूपों में प्रस्तुत किया जाता है। उत्तर दक्षिण और आर्य-द्राविड़ संघर्ष का रूप माननेवाले तो हैं ही, पर ऐसे भी लोग हैं, जो इसे ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष का रूप देते हैं। एक कालेज के प्रिन्सिपल ने जो जातीयता के रोग से पीड़ित हैं, मुझसे कहा कि क्षत्रिय राम ने वेचारे ब्राह्मण रावण का षड़यंत्र करके वध कर दिया। इस तरह की खोजों के पक्ष में कुछ न कुछ तर्क मिल ही जाते हैं। पर इसके मूल में होता है, वर्तमान मन-स्थिति का आरोप, राजनैतिक संघर्ष आदि जो आज देश और समाज के जीवन को अलगाव, फूट व संघर्ष के गर्त में ले जा रहे हैं।

सत्य तो यह है कि हिन्दू संस्कृति में जो परस्पर विरोधी विचार और संघर्ष वाह्य स्तरों में है, उनमें आन्तर एकता का जो सूत्र है; उसे समझने के लिए उस शैली को हृदयंगम करने की चेष्टा करनी चाहिए, जो तात्त्विक है। हिन्दुओं ने प्रत्येक वस्तु के तीन स्तर स्वीकार किए हैं, जिसे उन्होंने अधिभूत अधिदैव और अध्यात्म का नाम दिया है। अध्यात्म की नींव पर ही उनके अधिदेव और अधिभूत का भवन खड़ा है। किसी प्रसंग में सन्देह होते ही यदि हम उनके मूल आध्यात्मिक प्रसंग को सामने रख कर संगति मिलावें तो न केवल वाह्य विरोधी की संगति मिल जाती है; अपितु उससे जिस सत्य का ज्ञान होता है, वह जीवन निर्माण और उसकी सुख-शान्ति के लिए एक बड़ी वस्तु सिद्ध होगा।

मानस में एक ओर जहाँ भगवान शिव को 'विश्वास' बताया गया है, वहाँ दूसरी ओर उन्हें विराट का अहं भी स्वीकार किया गया है। इस तरह वे समष्टि अहं के प्रतीक हैं—

अहंकार शिव बुद्धि अज, मन शशि चित्त महान।
मनुज रूप सचराचर, रूप राम भगवान॥

व्यक्ति की पृथक-पृथक इकाइयाँ ही सम्मिलित रूप में समष्टि अहं की प्रतीक हैं। विष्णु के इस प्रसंग में चित्त का प्रतीक बताया गया है। दैत्य तथा राक्षस अहंवादी हैं। इसीलिए उन्हें शिवभक्त कहा जाता है। चित्त और उसकी स्थितियों से उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं है। चित्त को अत्यधिक महत्व देनेवाला समाधिनिष्ठ अन्तर्मुख योगी और उस श्रेणी के लोग हैं।

अतः इन्हें विष्णु का भक्त कहा जाता है। तात्विक दृष्टि से चित्त और अहं में कोई भेद नहीं है, पर व्यावहारिक दृष्टि से दोनों में अत्यधिक भेद है। अहं द्वारा व्यक्ति में रजोगुण और सक्रियता का उदय होता है और चित्त के द्वारा शुद्ध विचार और सत्वात्मक निष्क्रियता का। सक्रियता और निष्क्रियता स्थूल दृष्टि से एक दूसरे की विरोधी स्थितियाँ हैं परन्तु विचारक के लिए वे एक दूसरे की पूरक हैं। एक ही पुराण में कहीं दोनों के एकत्व का प्रतिपादन और कहीं एक की निन्दा और दूसरे की प्रशंसा। यह वस्तुतः पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण की भिन्नता का परिणाम है।

रावण, बाणासुर या अन्य दैत्य रजोगुणी होने के नाते स्वयं के पुरुषार्थ और अहं पर विश्वास रखते हैं। व्यष्टि अहं में जो सक्रियता है, उसका फल देना समष्टि 'शिव' के लिए स्वाभाविक या लाचारी है। सृष्टि में कुछ नियम हैं और शासनतंत्र में जैसे उसका निर्माता भी उन नियमों के अधीन होता है, इसी प्रकार शिव भी उस नियम के बन्धन में हैं, जो व्यष्टि और समष्टि के आधार का निर्णायक है। समष्टि अहं में पूर्णता है अतः वहाँ कोई आकांक्षा न होने से निष्क्रियता है। पर इसका दुष्परिणाम भी होता है। व्यष्टि में जब कोई ऐसा शक्तिशाली व्यक्तित्व उत्पन्न होता है, तब अपनी सक्रियता के कारण वह समष्टि को स्वानुकूल चलाने लगता है। अतः समष्टि अहं अनजान में ही दैत्य और राक्षसों का सहायक बना हुआ दीखता है। कोई भी क्रिया यदि वह विधि पूर्वक की गई है तो व्यर्थ नहीं जा सकती। एक स्वचालित यंत्र इकन्नी डालते ही प्लेटफार्म टिकट दे देता है। संभव है, उस प्रवेश के बाद कोई व्यक्ति उसका दुरुपयोग करे। ट्रेन में जाकर हत्या अथवा चोरी करे। किन्तु यन्त्र तो बाध्य है। उसे अच्छे-बुरे के निर्णय का अधिकार नहीं। भगवान शिव विराट में अहंचेतना होने के नाते व्यष्टि को उसके साधना का फल देने के लिए बाध्य हैं। वे यह निर्णय करने का अधिकार नहीं रखते कि सामने वाला उसका पात्र है या नहीं। इसलिये भक्त लोग उन्हें भोलानाथ कह कर पुकारते हैं। उपाख्यान आते हैं कि उनसे वरदान लेकर उन्हीं पर आघात करने का प्रयास किया गया। भस्मासुर नाम का दैत्य उनसे यह वरदान प्राप्त करने में सफल हो जाता है कि वह जिसके मस्तक पर हाथ रख दे, वह भस्म हो जाय। पार्वती को प्राप्त करने की कुटिल आकांक्षा से प्रेरित होकर ही उसने यह वरदान मांगा था और वर प्राप्त करने के बाद वह शिव को ही भस्म करने की चेष्टा करता है। फिर आगे-आगे भयभीत शिव

और उनके पीछे भस्मासुर। भगवान विष्णु इस अवसर पर उनकी सहायता करके भस्मासुर का विनाश कराते हैं।

मानो इसी प्रकार की घटनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप मानस में रावण कुम्भकर्ण को वर देने के लिए शिव अकेले नहीं जाते हैं। ब्रह्मा भी उनके साथ हैं। कितनी युक्तिसंगत वात है। कथाओं के माध्यम तथा कलात्मक ढंग से कितना गम्भीर संकेत किया गया, इसे देखकर आश्चर्य चकित हो जाना पड़ता है। ब्रह्मा को समष्टि बुद्धि का प्रतीक माना गया है। 'अहंकार शिव बुद्धि अज' इसलिए अहं के साथ बुद्धि का समावेश मानो आगे आनेवाली कठिनाइयों से रक्षा के लिए है। इसका उपयोग भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

कुम्भकर्ण का विशाल शरीर देखते ही ब्रह्मा और शिव स्तम्भित हो जाते हैं। "यह तो स्वयं में ही शक्ति और बल का पुंज है वर-प्राप्ति के पश्चात् तो समग्र विश्व का विनाश कर देगा"। ब्रह्मा (समष्टि बुद्धि) सजग हैं। अतः तत्काल शारदा (बुद्धि देवी) का आह्वान करके वे इस समस्या का समाधान पा लेते हैं। कुम्भकर्ण जो-कुछ माँगे उसे देना लाचारी है। पर शारदा की प्रेरणा से वह ऐसी वस्तु माँग लेता है, जो विश्व की सुरक्षा का कारण बन गयी।

पुनि प्रभु कुम्भकर्ण पहं गयऊ। तेहि विलोकि मन विस्मय भयऊ।।
जौ दिन प्रति अहार कर सोई। विश्व बेगि सब चौपट होई।।
शारद प्रेरि तासु मति फेरी। माँगेसि नींद मास षट केरी।।

यहाँ ब्रह्मा के लिए भगवान 'शिव' के द्वारा प्रभु शब्द का प्रयोग भी इसी भावना का सूचक है कि ब्रह्मा की चतुराई ने विश्व को बहुत बड़े संकट से बचा लिया।

रावण और भगवान राम दोनों ही शिव की पूजा और आराधना करते हैं। पर वस्तुतः दोनों की आराध्य के प्रति भिन्न भावना है। एक के लिए वह 'अहं' की आराधना है और दूसरे के लिए 'विश्वास' की। भगवान शिव स्वयं सहज रूप में विश्वास हैं। 'अहं' तो उनके लिए पद मात्र है जो विश्व के विविध कार्यों के संचालन की दृष्टि से निर्मित हुआ है। सकाम व्यक्ति बहुधा पद को महत्व देता है, क्योंकि वह सत्ता प्रिय होता है।

भगवान राम लंका आक्रमण के पूर्व शिव-लिंग की स्थापना करते हैं। नाम रखा जाता है 'रामेश्वर'। अपना स्वामी मानकर उन्हें नमन करते हैं, उनकी पूजा करते हैं। पर रावण केवल उन्हें अपने उत्थान का साधन मात्र मान कर व्यवहार करता है। उसकी पूजा का रूप यही है। वह शिर काटकर

चढ़ा देता है। तुलना में राम तो केवल पुष्पार्पण करते हैं। इसका अभिप्राय क्या? वस्तुतः अपने आराध्य को हृदय अर्पण करना चाहिए, उसी से वह प्रसन्न भी होता है। पर रावण हृदय नहीं शिर देता है। वह भी एक चतुर व्यापारी की भाँति; जो बुद्धिमानी से ऋण देता है, इस आशा से कि वह अधिक बढ़ कर लौटेगा। वह उस शिर के बदले में असंख्य शिर उत्पन्न होने की क्षमता प्राप्त करता है। उसके लिए शिव ऐश्वर्य और बल के दाता हैं। इसीलिए ऐश्वर्य और बल के मिलते ही वह उनको भी लघु बनाने की चेष्टा करता है। स्वयं उनके यहाँ जाकर पूजन करने के स्थान पर वह यही चाहता है कि वे लंका आकर पूजन लें। शिव को यह स्वीकार भी करना पड़ा।

बेद पढ़े बिधि शंभु सभीत, पुजावन रावण सों घर आवें।

(कवितावली)

यहाँ एक तुलना करना और भी ज्ञानवर्धक होगा कि रावण और भगवान राम दोनों के ही द्वारा दो गुरु वस्तुएँ उठाई जाती हैं और वे दोनों ही वस्तुएँ भगवान शिव की हैं। एक ने उनके निवास-स्थान कैलाश को उठाया और दूसरे ने उनके धनुष पिनाक को। दोनों को ही इसमें यश-प्राप्ति हुई, फिर भी; दोनों में जो अन्तर है, वह बड़ा ही भावात्मक और महत्वपूर्ण है। रावण "कैलाश" को उठाता है। वह कैलाश; जो शिव का आसन है, जो अचलता और गुरुता का ही प्रतीक है। रावण उसको हल्का और चल सिद्ध करने की चेष्टा करता है, क्योंकि वह निष्ठा की स्थिरता का विरोधी है। वह भगवान शिव के विश्वास रूप को न सही, आसन को विचलित करने की चेष्टा करता है और क्षण भर के लिए कैलाश को उठा कर अपने को गौरवान्वित अनुभव करता है।

कैलाश उठाने की इस प्रक्रिया को गोस्वामीजी ने रावण को अपने बल को तौलने की उपमा दी। संसार में सभी रावण के समक्ष आत्मसमर्पण कर देते हैं। कोई भी उससे युद्ध करने को प्रस्तुत नहीं होता। अब रावण स्वयं के बल को कैसे तौले? जैसे तराजू के दो पलड़े में एक पर वस्तु और दूसरे पर बाट रखा जाता है। जो हल्का होता है, वह ऊपर उठ जाता है। ठीक उसी प्रकार उसका ध्यान जाता है, कैलाश शिखरस्थ शिव की ओर। लोक-लाज के कारण वह उन्हें युद्ध की चुनौती तो नहीं देता, किन्तु दूसरी पद्धति से उन्हें लघु सिद्ध करने की चेष्टा करता है। उसने शिव सहित कैलाश को ही अपने बल को तौलने का बाट बनाना चाहा और जाकर हठात् शिव सहित कैलाश शिखर को उठा लेता है

श्रौर उनके उठ जाते ही अपने बल को उनसे भी गुरुतर मानकर अपने को गर्वान्वित अनुभव करता है।

कौतुकहीं कैलाश पुनि, लीन्हेंसि जाइ उठाय।
मनहुं तौलि जिन बाहुबल, चला अमित सुख पाय।।

वस्तुतः अहंकारी श्रौर निम्न प्रकृति वालों का यही स्वभाव भी है कि वे जिससे बड़प्पन प्राप्त करते हैं, उसी को मिटाने श्रौर नीचा दिखाने की चेष्टा करते हैं।

जाते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहिं हठि ताहि नसावा।।

रावण शिव को लघु सिद्ध करने के प्रयास से अपना सब कुछ खो देता है। यह तो उस तेज कुल्हाड़ेवाले मूर्ख की मनोवृत्ति का सूचक है जो अन्य डालियों को क्षण भर में काटता हुआ उत्साह के अतिरेक में स्वयं जिस डाली पर स्थित है, उसको भी काट कर काटने की कला का प्रदर्शन करना चाहता है। यह तो रावण के हित में था कि वह एक स्थान ऐसा शेष रखता, जहाँ से उसे कठिन अवसर पर सहायता प्राप्त हो सके। पर अपने आपको उससे भी उत्कृष्ट सिद्ध करने की चेष्टा उसके आस्था विश्वासहीन जीवन का उदाहरण है। यह तो रावण ही नहीं, प्रत्येक अहंकारी का इतिहास है। वह विश्वास को तुच्छ सिद्ध करके अपने आपको वीर सिद्ध करना चाहता है।

किन्तु भगवान राम के द्वारा उठाया जाता है शिव धनुष पिनाक। रावण जिसे उठाने का साहस नहीं कर पाता, उसे प्रभु केवल उठाते ही नहीं, अपितु विनष्ट भी कर देते हैं। इस धनुष के पीछे जो इतिहास है, उसे भी इस प्रसंग में स्मरण करना आवश्यक है।

पौराणिक कथा के अनुसार एक बार शिव विष्णु का युद्ध होता है श्रौर उसमें भगवान शिव का धनुष स्तम्भित हो जाता है। इसके पश्चात् उन्होंने इस धनुष का परित्याग कर दिया। आध्यात्मिक दृष्टि से यह अन्तः-करण की दो स्थितियों के संघर्ष की कहानी है। अहं श्रौर चित्त एक ही अन्तः करण के विभिन्न स्थितियों के दो रूप हैं। अन्तः करण चतुष्टय के रूप में मन, बुद्धि, चित्त श्रौर अहंकार की गणना की जाती है। जागृत वाह्य व्यवहार में बुद्धि का प्राधान्य, स्वप्न स्थिति में मन की प्रधानता, सुषुप्ति में अहं का व स्थिति श्रौर समाधि में चित्त का प्राधान्य है। इस तरह जीवन की चार अवस्थाओं में हम इनकी पृथक-पृथक प्रधानता देखते हैं। वाह्य-व्यवहार में व्यक्ति समाज की स्थितियों के अनुकूल आचरण करता है अतः बुद्धि के नियंत्रण की आवश्यकता होती है। स्वप्न में मन खुलकर खेलता

है। वहाँ बुद्धि का नियंत्रण समाप्त हो जाता है। सुषुप्ति तो एक प्रकार का प्रलय ही है क्योंकि वहाँ कुछ शेष दिखाई नहीं देता। पर वहाँ भी ग्रहं तो द्रष्टा रूप में रहता ही है, क्योंकि गाढ़ सुषुप्ति में उठने के पश्चात् व्यक्ति कहता है, ग्राज मैं बड़े सुख से सोया। शिव प्रलय के भी देवता हैं। व्यावहारिक रूप में केवल तीन स्थितियों का ही ग्रनुभव होता है। चौथी समाधि ग्रवस्था, जो चित्त-वृत्तियों की निरुद्ध स्थिति है, योग के द्वारा प्राप्त होती है। समाधि की उच्चतम स्थितियों में 'ग्रहं' का निषेध ग्रवश्य-म्भावी है। चित्त की निरुद्ध स्थिति में; जो ग्रहं का मन बुद्धि पर नियंत्रण रखता है, उसे परास्त होना पड़ता है। ग्रहं में जो कर्त्तृत्व है, वही शिव का धनुष है। समाधि में कर्त्तृत्व का निषेध ही उस धनुष का स्तम्भित हो जाना है ग्रौर तब ग्रहं उसे व्यर्थ समझ कर उसका परित्याग कर देता है।

भगवान राम के द्वारा धनुर्भंग ग्रहं कर्त्तृत्व का ही विनाश है।

धनुर्भंग प्रसंग की गम्भीरता को दृष्टिगत रखते हुए उसका स्पष्टीकरण ग्रावश्यक है।

महाशक्ति जानकी ही सृष्टि के उद्भव, पालन ग्रौर संहार की हेतु हैं। उनसे बड़ा कोई कर्त्ता नहीं, इसलिये उनके लिए शिव धनुष (संहार रूप कर्तृत्व) का कोई महत्व नहीं। इसीलिए वे उस धनुष को बाएँ हाथ से उठा कर एक ग्रोर रख देती हैं। जनक के सामने समस्या है जानकी जी के लिए उपयुक्त वर की। ग्रौर तब वे यही प्रतिज्ञा करते हैं कि जो इस धनुष को उठाकर तोड़ देगा, वही जानकी के लिए उपयुक्त ग्रधिकारी होगा।

विभिन्न देशों के राजा जानकीजी को पाने के लिए एकत्र होते हैं। रावण ग्रौर बाणासुर भी उस सभा में ग्राकर लौट जाते हैं। महाशक्ति को वरण करने का प्रलोभन सभी के हृदय में है। किन्तु भव धनुष मध्य में बाधक रूप में उपस्थित है। उसे उठाना ग्रौर तोड़ना कैसे संभव हो। बात बड़ी स्पष्ट है कि धनुष को उठाने के लिए ग्रावश्यकता है शिव से भी बड़े कर्त्तृत्व की। जिसके कर्त्तृत्व के समक्ष शिव का कर्त्तृत्व भी हल्का जान पड़े, ऐसी क्षमता है महामाया ग्राद्य शक्ति जानकी में। जो संकल्प मात्र से ग्रनन्त ब्रह्माण्डों का निर्माण, पालन ग्रौर संहार कर देती हैं, उनके कर्त्तृत्व के समक्ष ब्रह्मा की स्थिति भी बड़ी दयनीय हो जाती है। विवाह के समय जनकपुर में ग्राकर वह ग्राश्चर्य चकित रह जाता है। उसे वहाँ ग्रपनी निर्मित कोई वस्तु नहीं दीखती—

विधिहिं भयउ ग्राश्चर्य विशेषी। निज करनी कछु कतहुं न देखी॥

और तब उसके संशय का निराकरण करते हैं इस रहस्य के तत्वज्ञ भगवान शिव—

शिव समुझाए देव सब, जनि आचरज भुलाहु।
हृदय बिचारहु धीर धरि, सिय रघुबीर बिबाहु।।

अस्तु, अन्य राजाओं के लघु कर्त्तृत्व के लिए यह संभव न था कि वे शिव के समग्र संहारात्मक कर्त्तृत्व के प्रतीक धनुष को उठा पाते। पर यहाँ धनुष को उठाना ही नहीं तोड़ना भी है। जनक की निराशा की उस समय कोई सीमा नहीं रह जाती, जब हजारों राजा मिल कर भी उसे उठाने में असमर्थ हो जाते हैं। इसलिये उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि वसुन्धरा वीर विहीन हो चुकी है। बड़े निराशा भरे शब्द में उन्होंने कहा—

रहा चढ़ाउब तोरब भाई। तिल भर भूमि न सकेउ छोड़ाई।।
अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी।।

वस्तुतः इस धनुष का विनाश तो कोई अकर्त्ता ही कर सकता है, अन्य नहीं। जानकीजी के प्रति अगाध स्नेह होते हुए भी धनुष तोड़ने के लिए भगवान राम का न उठना किस बात का सूचक है? वस्तुतः यह केवल धनुष तोड़ने की समस्या न होकर कर्तृत्व पर विजय पाने का प्रश्न है। स्वेच्छा से, भय या प्रलोभन से, प्रेरित होकर धनुष तोड़ने के लिए उठ खड़े होना तुच्छ कर्त्तृत्व की भावना का ही सूचक होगा। भगवान राम ऐसी भूल नहीं कर सकते। इसलिए विश्वामित्र की आज्ञा होने पर ही भगवान राघवेन्द्र का उठना उनके इस प्रसंग में निमित्तता मात्र का सूचक है; कर्त्तृत्व का नहीं। इसीलिए इस प्रसंग में गोस्वामीजी ने भगवान राम को हर्ष-विषाद विहीन बताया। वस्तुतः हर्ष-विषाद कर्ता को ही होता है; निमित्त को नहीं।

सुनि गुरु बचन चरण शिर नावा। हरष विषाद न कछु उर आवा।।

आगे चलकर परशुराम संवाद में यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रभु स्वयं को धनुष तोड़ने वाला कर्त्ता नहीं मानते। पहले तो लक्ष्मणजी यही बात व्यंग भरी वाणी में कहते हैं :—

छुअत टूट रघुपतिहिं न दोषू। मुनि बिनु काज करिय कत रोषू।।

संभव था कि यह लक्ष्मण का परशुराम को नीचा दिखाने का प्रयास मान लिया जाता अथवा आत्म-श्लाघा मूलक काव्य। पर नहीं, परम नम्र प्रभु भी जब यही कहते हैं कि "महर्षि आप का यह कहना उचित नहीं है कि मुझे धनुष तोड़ कर अहंकार हो गया है क्योंकि यदि मैंने धनुष तोड़ा होता; तो संभव था मुझे अहंकार हो जाता किन्तु मेरे स्पर्श करते ही वह स्वयं टूट गया। फिर मैं किस बात पर अहंकार करूँ।"

छुग्रतहिं टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करउं अभिमाना।।

ठीक इसी भावना का संकेत धनुभंग के समय की यह चौपाई भी करती है कि लोगों ने राम को केवल खड़े देखा, धनुष को लेते, चढ़ाते, खींचते और तोड़ते तो किसी ने देखा ही नहीं।

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े।।

अतः भगवान राम के द्वारा यह वाक्य कहे जाने पर परशुराम को गम्भीरता से सोचना पड़ा कि अन्ततः इसका अभिप्राय क्या है ? भगवान राम की वाणी मृदु होते हुए भी गूढ़ थी, ऐसा संकेत मानस में किया गया है।

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परशुधर मति के।।

उन्हें सन्देह हुआ कि फिर यह कहीं साक्षात विष्णु ही तो नहीं हैं। समाधि-निष्ठ के लिए ही कर्त्तृत्व पर विजय पाना संभव है। किसी अन्य के लिए नहीं और वही अपने अकर्त्तृत्व की घोषणा विश्वास पूर्वक कर सकता है। अतः परीक्षा के लिए वे विष्णु का धनुष देने का उपक्रम करते हुए कहते हैं कि इस धनुष को चढ़ा कर आप मेरे सन्देह का निवारण कीजिए। इसका अभिप्राय यही था कि यदि वे विष्णु होंगे तो स्वयं चित्त-वृत्ति का निरोध कर लेंगे। धनुष की प्रत्यंचा चित्त-वृत्ति की प्रतीक है। उसे चढ़ा लेना समाधि-सिद्ध होने का लक्षण है। पर यहाँ तो उससे भी महत् चमत्कार होता है। धनुष राम को देते समय अपने आप चढ़ गया, उसकी प्रत्यंचा भी नहीं चढ़ानी पड़ी। मानो यह इस सत्य का सूचक था कि उन्हें चित्त-वृत्ति का निरोध करना नहीं पड़ता, यह तो साधारण योगी का कार्य है क्योंकि निरोध में भी वीज रूप में कर्त्तृत्व का अंश स्वीकार करना पड़ता है। यहाँ समाधि सहज-सिद्ध है। और कर्त्तृत्व का इससे बड़ा क्या प्रमाण हो सकता है कि धनुष चढ़ाना नहीं पड़ा, स्वयं चढ़ गया।

रावण या वाणासुर जैसे व्यक्ति जो 'अहं' और कर्त्तृत्व से बंधे हुए हैं, इसीलिए इस कार्य में असफलता प्राप्त करते हैं। अकर्ता, अभोक्ता ब्रह्म ही महाशक्ति का सच्चा स्वामी है। अतः धनुष की परीक्षा समाप्त होते ही आद्याशक्ति ने प्रभु को जयमाल के द्वारा वरण किया।

इस तरह भगवान शिव समष्टि अहं के भी प्रतीक हैं और विश्वास के भी। सच तो यह है कि वे सब कुछ हैं। कर्मियों के लिए अहं, भक्तों के लिए विश्वास और ज्ञानियों के लिए ज्ञान। पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ज्ञान की चरम परिणति ही विश्वास है, अतः उसके पृथक वर्णन की कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे एक महा समुद्र में असंख्य वस्तुएँ हैं पर व्यक्ति अपनी योग्यता और क्षमता के अनुकूल वस्तु पाता है, ठीक

और तब उसके संशय का निराकरण करते हैं इस रहस्य के तत्वज्ञ भगवान शिव—

शिव समुझाए देव सब, जनि आचरज भुलाहु।
हृदय बिचारहु धीर धरि, सिय रघुबीर बिबाहु।।

अस्तु, अन्य राजाओं के लघु कर्तृत्व के लिए यह संभव न था कि वे शिव के समग्र संहारात्मक कर्तृत्व के प्रतीक धनुष को उठा पाते। पर यहाँ धनुष को उठाना ही नहीं तोड़ना भी है। जनक की निराशा की उस समय कोई सीमा नहीं रह जाती, जब हजारों राजा मिल कर भी उसे उठाने में असमर्थ हो जाते हैं। इसलिये उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि वसुन्धरा वीर विहीन हो चुकी है। बड़े निराशा भरे शब्द में उन्होंने कहा—

रहा चढ़ाउब तोरब भाई। तिल भर भूमि न सकेउ छोड़ाई।।
अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी।।

वस्तुतः इस धनुष का विनाश तो कोई अकर्त्ता ही कर सकता है, अन्य नहीं। जानकीजी के प्रति अगाध स्नेह होते हुए भी धनुष तोड़ने के लिए भगवान राम का न उठना किस बात का सूचक है? वस्तुतः यह केवल धनुष तोड़ने की समस्या न होकर कर्तृत्व पर विजय पाने का प्रश्न है। स्वेच्छा से, भय या प्रलोभन से, प्रेरित होकर धनुष तोड़ने के लिए उठ खड़े होना तुच्छ कर्तृत्व की भावना का ही सूचक होगा। भगवान राम ऐसी भूल नहीं कर सकते। इसलिए विश्वामित्र की आज्ञा होने पर ही भगवान राघवेन्द्र का उठना उनके इस प्रसंग में निमित्तता मात्र का सूचक है; कर्तृत्व का नहीं। इसीलिए इस प्रसंग में गोस्वामीजी ने भगवान राम को हर्ष-विषाद विहीन बताया। वस्तुतः हर्ष-विषाद कर्ता को ही होता है; निमित्त को नहीं।

सुनि गुरु बचन चरण शिर नावा। हरष विषाद न कछु उर आवा।।

आगे चलकर परशुराम संवाद में यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रभु स्वयं को धनुष तोड़ने वाला कर्त्ता नहीं मानते। पहले तो लक्ष्मणजी यही बात व्यंग भरी वाणी में कहते हैं :—

छुअत टूट रघुपतिहि न दोषू। मुनि बिनु काज करिय कत रोषू।।

संभव था कि यह लक्ष्मण का परशुराम को नीचा दिखाने का प्रयास मान लिया जाता अथवा आत्म-श्लाघा मूलक काव्य। पर नहीं, परम नम्र प्रभु भी जब यही कहते हैं कि "महर्षि आप का यह कहना उचित नहीं है कि मुझे धनुष तोड़ कर अहंकार हो गया है क्योंकि यदि मैंने धनुष तोड़ा होता; तो संभव था मुझे अहंकार हो जाता किन्तु मेरे स्पर्श करते ही वह स्वयं टूट गया। फिर मैं किस बात पर अहंकार करूँ।"

छुअतहिं टूट पिनाक पुराना । मैं केहि हेतु करउं अभिमाना ।।

ठीक इसी भावना का संकेत धनुर्भंग के समय की यह चौपाई भी करती है कि लोगों ने राम को केवल खड़े देखा, धनुष को लेते, चढ़ाते, खींचते और तोड़ते तो किसी ने देखा ही नहीं ।

लेत चढ़ावत खेंचत गाढ़े । काहु न लखा देख सब ठाढ़े ।।

अतः भगवान राम के द्वारा यह वाक्य कहे जाने पर परशुराम को गम्भीरता से सोचना पड़ा कि अन्ततः इसका अभिप्राय क्या है ? भगवान राम की वाणी मृदु होते हुए भी गूढ़ थी, ऐसा संकेत मानस में किया गया है ।

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के । उघरे पटल परशुधर मति के ।।

उन्हें सन्देह हुआ कि फिर यह कहीं साक्षात विष्णु ही तो नहीं हैं । समाधि-निष्ठ के लिए ही कर्त्तृत्व पर विजय पाना संभव है । किसी अन्य के लिए नहीं और वही अपने अकर्त्तृत्व की घोषणा विश्वास पूर्वक कर सकता है । अतः परीक्षा के लिए वे विष्णु का धनुष देने का उपक्रम करते हुए कहते हैं कि इस धनुष को चढ़ा कर आप मेरे सन्देह का निवारण कीजिए । इसका अभिप्राय यही था कि यदि वे विष्णु होंगे तो स्वयं चित्त-वृत्ति का निरोध कर लेंगे । धनुष की प्रत्यंचा चित्त-वृत्ति की प्रतीक है । उसे चढ़ा लेना समाधि-सिद्ध होने का लक्षण है । पर यहाँ तो उससे भी महत् चमत्कार होता है । धनुष राम को देते समय अपने आप चढ़ गया, उसकी प्रत्यंचा भी नहीं चढ़ानी पड़ी । मानो यह इस सत्य का सूचक था कि उन्हें चित्त-वृत्ति का निरोध करना नहीं पड़ता, यह तो साधारण योगी का कार्य है क्योंकि निरोध में भी बीज रूप में कर्त्तृत्व का अंश स्वीकार करना पड़ता है । यहाँ समाधि सहज-सिद्ध है । और कर्त्तृत्व का इससे बड़ा क्या प्रमाण हो सकता है कि धनुष चढ़ाना नहीं पड़ा, स्वयं चढ़ गया ।

रावण या बाणासुर जैसे व्यक्ति जो 'अहं' और कर्त्तृत्व से बंधे हुए हैं, इसीलिए इस कार्य में असफलता प्राप्त करते हैं । अकर्ता, अभोक्ता ब्रह्म ही महाशक्ति का सच्चा स्वामी है । अतः धनुष की परीक्षा समाप्त होते ही आद्याशक्ति ने प्रभु को जयमाल के द्वारा वरण किया ।

इस तरह भगवान शिव समष्टि अहं के भी प्रतीक हैं और विश्वास के भी । सच तो यह है कि वे सब कुछ हैं । कर्मियों के लिए अहं, भक्तों के लिए विश्वास और ज्ञानियों के लिए ज्ञान । पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ज्ञान की चरम परिणति ही विश्वास है, अतः उसके पृथक वर्णन की कोई आवश्यकता नहीं है । जैसे एक महा समुद्र में असंख्य वस्तुएँ हैं पर व्यक्ति अपनी योग्यता और क्षमता के अनुकूल वस्तु पाता है, ठीक

उसी तरह जिसमें जितना विवेक है, उसके अनुकूल ही वह भगवान शिव के स्वरूप को समझ कर उसकी आराधना करता है और फल प्राप्त करता है। यद्यपि स्वयं भगवान शिव यही चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उनके विश्वास रूप को समझ कर भक्ति की याचना करे। किन्तु दुर्भाग्यवश अविवेकी दैत्य राक्षस या उस प्रकार की मनोवृत्ति के लोग इस सत्य को नहीं समझ पाते और इसीलिए जैसे कोई व्यक्ति रत्नाकर समुद्र में जाकर सीप लेकर लौट आवे, उसी भाँति भगवान शंकर से भौतिक ऐश्वर्य जैसी नश्वर वस्तुएँ माँग लेते हैं।

गोस्वामीजी ने कवितावली रामायण में एक बड़ा ही मधुर वाक्य लिखा है। जब कोई व्यक्ति भगवान महादेव को साधना के द्वारा प्रसन्न कर लेता है और वर माँगना चाहता है, तब मागने से पूर्व शंकर उसे चेतावनी देते हैं।

नांगों कहै जग मागनों देखि न। खांगो कछु जनि मागियो थोरो ।।

यहाँ गोस्वामीजी ने शिव का नाम दिया 'नांगों', जो नग्न है। नग्न कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान शिव का यह वेष देख कर माँगने वाला निरुत्साहित हो सकता है। रघुवंश की भाँति जहाँ कौत्स गुरु-दक्षिणा के लिए स्वर्ण मुद्रा प्राप्त करने की अभिलाषा से महाराज रघु के पास जाते हैं, पर जब महाराज ने, जो सर्वजित यज्ञ में सब कुछ दे चुके हैं, मिट्टी के बर्तन में अर्घ्य दिया, तो कौत्स की ऐसी स्थिति देख कर माँगने का उत्साह नष्ट हो जाता है। भगवान शिव को देखकर तो उससे अधिक नैराश्य संभव है। सारा वेष ही ऐश्वर्य विहीनता और दरिद्रता का सूचक है। अतः शंकर उसे चेतावनी देते हैं। "यहाँ किसी वस्तु की कमी नहीं है, अतः थोड़ा न मागना"। पर यह थोड़ा और बहुत तो सापेक्ष शब्द हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मनस्थिति के अनुकूल थोड़े और बहुत की परिभाषा करता है। "न मागियो थोरो" बड़ा ही अर्थ-गर्भित वाक्य है। विचार के लिए तो, विश्व के वैभव और विषय की तो बात क्या, स्वर्गिक वैभव भी "थोड़े" की सीमा में ही आता है। भगवान राम ने पुरवासियों को चेतावनी देते हुए कहा था "मनुष्य शरीर अत्यन्त दुर्लभ है। देवता भी इसकी आकांक्षा रखते हैं। ऐसे शरीर को प्राप्त कर जो उसका सदुपयोग नहीं करता, वह आत्मघाती है। इस शरीर का फल विषय नहीं ? तो क्या स्वर्ग है ? नहीं, नहीं, क्योंकि वह भी "थोड़ा" है।

एहि तन का फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई ।।

वस्तुतः सच्चे अर्थ में 'बहुत' तो वही है, जो किसी समय भी 'थोड़ा'

न हो सके। पर क्या कोई भी ऐसी भौतिक वस्तु है, जो काल की सीमा में 'बहुत' से 'थोड़ी' न बन जाती हो। धन, शक्ति, सत्ता कोई भी इस नियम का अपवाद नहीं। 'बहुत' तो एक मात्र भगवान ही हैं, अतः उनको या उनकी भक्ति को माँगना ही वास्तविक अर्थों में 'बहुत' मांगना है। पर भगवान शिव के इस सारगर्भित संकेत पर बहुत थोड़े लोग ध्यान दे पाते हैं, केवल वे जिनका अन्तःकरण सत्संग से शुद्ध हो चुका है, जिनके हृदय में सत् श्रद्धा का उदय हो गया है। इसीलिए रामेश्वर स्थापना के प्रसंग में प्रभु ने बताया कि शिव प्रसन्न होकर जीव को मेरी भक्ति का दान देते हैं, पर किन्हें? जो अकाम और निश्छल हैं।

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि शंकर देइहि॥

जो निष्काम और निश्छल नहीं हैं, वह यथार्थ में शिव भक्त हैं ही नहीं। जब हम किसी व्यक्ति से मित्रता करते हैं तब यह स्वाभाविक हो जाता है कि हम उसके शत्रु से कोई सम्बन्ध न रखें। शिव कामारि हैं। जो सकाम हैं, वह वस्तुतः अन्तःकरण से शिव-विरोधी ही हैं। केवल स्वार्थ के लिए वह शिव-भक्ति का ढोंग रचता है। इसी प्रकार नग्न शिव निश्छलता के मूर्तिमान रूप जान पड़ते हैं। वहाँ कोई दुराव और आवरण है ही नहीं। उन्हें छली व्यक्ति कैसे प्रिय लग सकता है? इस तरह का व्यक्ति उनके निकट पहुँच कर भी स्वयं ठगा जाता है, यद्यपि वह उन्हें ठगने की भावना से जाता है। इसलिये बहुधा शिव से मांगे गये वरदानों में ही उनकी मृत्यु का मार्ग निश्चित हो जाता है। वे अमरता चाहते थे, पर जानते थे कि अमरता नहीं मांगी जा सकती, अतः वे अपने को इतना बुद्धिमान मान लेते थे कि शिव के न देने पर भी हम चतुराई से उसे पाने में समर्थ हो जायेंगे। यह थी उनके अविवेक-जनित अहं की पराकाष्ठा, जहाँ वे अपने आपको 'शिव' से भी अधिक बुद्धिमान समझ बैठते हैं।

रावण अमरता चाहता है। पर वह कैसे मिले? दस शिर का अभिमानी यह सोचता है कि मनुष्य और भालू तो नगण्य हैं, उन्हें तो मैं स्वयं परास्त कर दूंगा, केवल अन्यों से भय हो सकता है। उनके लिए वर माँग लूं तो अमरता सुनिश्चित है। अतः वह वर मांगता है:—

हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥

पर मानो इस वाक्य से ही उसने मनुष्य के हाथ से मृत्यु सुनिश्चित कर ली। इसीलिए गोस्वामीजी ने मानस के बाल-काण्ड में कहा कि रावण ने मनुष्य के हाथ से मृत्यु की याचना की—

रावण मरण मनुज कर जांचा। .. .. ..

सुनने में कितना ग्रटपटा, पर कितनी वास्तविक व्याख्या है रावण के वरदान की।

"दैवो भूत्वा देवं यजेत" का सिद्धान्त बड़ा ही सारगर्भित है। पूजन या भक्ति का ग्रभिप्राय केवल इतना ही नहीं है कि कुछ वस्तुएँ ग्राराध्य को ग्रर्पित कर दी जायँ। उसका ग्रर्थ है; हम जिसकी ग्राराधना करते हैं, मन बुद्धि ग्रौर क्रिया से उसके ग्रनुकूल स्वभाव व ग्राचरण बनाने की चेष्टा करें। पहले साधक भावना से स्वयं में उसका ग्रारोप करता है। साधना के प्रगाढ़ ग्रौर इष्ट से एकात्मकता की वृद्धि होने पर, वे भावात्मक संकल्प सत्य हो जाते हैं। फिर वह देवता से भिन्न नहीं रह जाता। रावण जैसे व्यक्ति जो वस्तुग्रों से वाह्य ग्राराधना करते हैं ग्रौर मन-बुद्धि से प्रतिकूल ग्राचरण, वे क्रिया का फल तो पा लेते हैं, किन्तु देवता के प्रिय नहीं बन पाते। इसीलिए भगवान शिव ही हनुमानजी के रूप में ग्रवतरित होकर प्रभु की सहायता करते हैं ग्रौर रावण के संहार में भाग लेते हैं।

इसी प्रकार काग-भुसुण्डि का प्रसंग भी एक ग्रच्छा उदाहरण है। यह कागभुसुण्डि के पूर्व जन्म की कथा है, जब वे ग्रयोध्या में शूद्र कुल में जन्म लेते हैं ग्रौर ग्रकाल की स्थिति में महाकाल की नगरी उज्जैन में पहुँच जाते हैं। वहाँ वे कुछ सम्पत्ति उपलब्ध कर लेते हैं ग्रौर एक ब्राह्मण से शिव दीक्षा प्राप्त करते हैं। वे स्वयं को शिव का ग्रनन्य भक्त मान कर ग्रविचार पूर्वक विष्णु ग्रौर राम की निन्दा करते हैं। गुरुदेव ने उन्हें भगवान राम ग्रौर शिव के सम्वन्ध को समझाने की चेष्टा की। उनकी इस मनोवृत्ति को बदलने की चेष्टा की, पर वे ग्रसफल रहे। परिणाम क्या हुग्रा? एक दिन वे हर--मन्दिर में शिव-मंत्र का जप कर रहे थे, गुरुदेव ग्राये। किन्तु तब तक कागभुसुण्डि का ग्रहंकार इतना बढ़ चुका था कि वे गुरुदेव की ग्रपेक्षा स्वयं को ग्रधिक निष्ठावान भक्त समझने लगे थे। ग्रतः उठकर प्रणाम भी नहीं करते हैं :—

एक बार हर मन्दिर, जपत रहेउं हरिनाम।
गुरु ग्राए ग्रभिमान ते, उठि नहिं कीन्ह प्रणाम॥

गुरुदेव ग्रत्यन्त उदार हृदय के थे, उनके लिए इसका कोई महत्व न था। पर भगवान रुद्र इस धृष्टता पर क्रुद्ध हो उठते हैं। सत्य तो यह है कि उनका समस्त ग्राचरण ही ग्रनौचित्यपूर्ण था। पर ग्राज उचित ग्रवसर मिलते ही महाकाल ने उन्हें कठोर दण्ड दिया। यह दण्ड ही वस्तुतः वास्तविक पूजा ग्रौर भक्ति का स्वरूप बताने के लिए है।

भगवान शिव का राम से बड़ा विलक्षण सम्बन्ध है। गोस्वामीजी

उनके लिए सेवक, स्वामि, सखा इन तीन सम्बन्ध सूचक शब्दों का प्रयोग करते हैं। दो भिन्न व्यक्तियों में इस प्रकार का सम्बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि इनके आचरण और कर्त्तव्य भिन्न प्रकार के हैं। वस्तुतः यह तीन शब्द शिव और राम की अभिन्नता को सिद्ध करते हैं। एक ही तत्व अपने आपको दो पृथक रूपों में व्यक्त करता है और विविध भावों के व्यक्तीकरण की दृष्टि से कभी सेवक, कभी स्वामी और कभी सखा के रूप में व्यवहार करते हुए दिखाई देते हैं। इसीलिए गोस्वामीजी भगवान राम की ही भाँति शिव को भी अपना सर्वस्व और हितैषी मानते हैं।

सेवक स्वामि सखा सिय पीके। हित निरुपधि सबबिधि तुलसीके।।

मानस के प्रधान नायक राम हैं, इस दृष्टि से उसमें उनका प्राधान्य होना आश्चर्यजनक नहीं है। फिर भी गोस्वामीजी ने सन्तुलन का बड़ा ध्यान रखा है। विशेष रूप से गोस्वामीजी का यह कार्य उस समय शिव-विष्णु के नाम पर संघर्ष करने वालों के लिए उनकी नासमझी का दर्शन कराने वाला और शान्ति का सन्देश देने वाला था और गोस्वामीजी को अपने इस सन्देश में अद्वितीय सफलता भी मिली। काशी जैसे शिव-भक्ति प्रधान केन्द्र में राम और रामचरित मानस के प्रति जितना प्रेम है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

उनके लिए भगवान शिव ब्रह्म राम के प्रापक हैं। इसमें भगवान शिव की न्यूनता नहीं सिद्ध होती क्योंकि प्रभु की प्राप्ति प्रभु से ही होती है। स्वयं अपना मार्ग और स्वरूप बताने के लिए ब्रह्म ही अपने आपको परमाचार्य के रूप में, शिव के रूप में, व्यक्त कर रहा है।

अपितु इस दृष्टि से वह भगवान राम की अपेक्षा भी हमारे लिए अधिक कल्याणकारी है क्योंकि उनकी कृपा से ही उस परम तत्व का साक्षात्कार और अनुभव जीव कर सकता है। गुरु को बहुधा भगवान की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा जाता है। यह गुरु वस्तुतः विश्व में परम गुरु शिव का प्रतिनिधित्व करता है। भगवान शंकर त्रिभुवन गुरु हैं।

तुम त्रिभुवन गुरु बेद बखाना। आन जीव पामर का जाना।।

इसीलिए गोस्वामीजी अपने गुरुदेव को "गुरुः शंकर रूपिणं" के रूप में स्मरण करते हैं।

मानस के प्रथम सोपान (बाल काण्ड) के प्रथम भाग में वे भगवती उमा और महादेव शिव के विवाह और सम्मिलन का वर्णन करते हैं और उत्तरार्द्ध में श्री जानकी और भगवान राम के विवाह का। भगवान राम और महामाया जानकी के विवाह की अपेक्षा शिव पार्वती का विवाह अधिक

दुष्कर, पर अधिक आवश्यक है। जीव के अन्तःकरण में पहले शिव शक्ति का सम्मिलन होना अपेक्षित है, तभी राम जानकी का मिलन हो सकता है।

अवतार

श्रद्धा और विश्वास अन्तःकरण में उदय होने के पश्चात् ही ब्रह्म और महाशक्ति का रहस्य जीव हृदयंगम कर सकता है। ब्रह्म और महाशक्ति के सम्मिलन के बिना जीव के अन्तःकरण की शाश्वती समस्याओं का समाधान असंभव है। उस समस्या का रूप क्या है? सृष्टि में शक्ति निरन्तर सक्रिय है। सृजन, स्थिति, संहार उस शक्ति के विविध रूपों के द्वारा सम्पन्न हो रहा है। मनुष्य भी उस शक्ति का और उसकी महत्ता का अनुभव करता है। अतः सभी शक्ति को प्रकट कर उस पर अधिकार कर लेना चाहते हैं। आज सभी राष्ट्रों में उस शक्ति के व्यक्त करने की होड़ चल रही है। एटम, हाइड्रोजन, जड़, चेतन सभी से मनुष्य शक्ति पाना चाहता है, क्योंकि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिकाधिक शक्ति की आवश्यकता है। पर शक्ति का प्राकटच वरदान और अभिशाप दोनों ही बन सकता है। अपितु अभिशाप बनने की ही संभावना अधिक है। वह शक्ति चाहे मानसिक हो, बौद्धिक हो अथवा भौतिक पदार्थजन्य, परन्तु जिन लोगों के हाथ में है, उनकी इच्छा के अनुकूल चलने के लिए वाध्य है। मनुष्य जिस तीव्र गति से शक्ति के व्यक्तीकरण में प्रगति कर रहा है, वहाँ उनका मानसिक धरातल जहाँ का तहाँ है। उन्हीं राग-द्वेष की वृत्तियों से उसका सारा जीवन संचालित हो रहा है। अतः सारा मानव समाज आज भय संत्रस्त है। किसी भी क्षण शक्ति का संघर्ष सारे विश्व के संहार का कारण बन सकता है। पर यह समस्या नयी नहीं। ऐसी स्थितियाँ मानव-समाज में बार-बार उत्पन्न होती रहती हैं और हमारे ऋषियों ने इस समस्या का समाधान करने का प्रयास किया है। शक्ति के प्राकटच में एक ऐसा भी तथ्य है जो उसकी जटिलता को बढ़ा देता है। शक्ति का प्रकटीकरण सत्वमय व्यक्ति की अपेक्षा रजोगुणी व्यक्ति के लिए अधिक सुगम है। उसके लिए जिस तीव्र असन्तोष, लगन और सक्रियता की आवश्यकता है, उसका सत्वगुणी व्यक्ति में अभाव होता है। वह अधिक विचार-प्रधान और सन्तोषी होता है, इसीलिए वह शक्ति के प्राकटच में पिछड़ा ही रहेगा। रजोगुणी व्यक्ति के हाथ में शक्ति का जाना उसके दुरुपयोग की

संभावना को और भी बढ़ा देता है। दैत्य और राक्षसों को, पुराणों में इसी दृष्टि से, अधिक शक्तिशाली चित्रित किया जाता है। रावण की क्षमताओं का चित्रण इसी सत्य की पुष्टि करता है। रावण की नभ, थल, जल में अव्याहत गति और काम रूप ग्रहण की क्षमता अन्य सात्विक राजाओं के लिए दुर्लभ है। स्पष्ट है कि रावण को शक्ति से परास्त करना संभव नहीं था। इसीलिए वह समस्त ब्रह्माण्ड को पराधीन बनाने में समर्थ हो जाता है। समस्त विश्व की श्री, सौन्दर्य व ऐश्वर्य उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति का साधन बन गया।

भुज बल विश्व वस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मण्डलीक मनि रावण, राज करइ निज मंत्र।।
देव यक्ष गन्धर्व नर, किन्नर राज कुमारि।
जीति बरी जिन बाहुबल, वर सुन्दरि बहु नारि।।

अन्ततोगत्वा सारा संसार रावण के अत्याचार से कराह उठता है, पर उपाय क्या? मनुष्य की आस्थाओं का केन्द्र ईश्वर कहाँ सो रहा है? बहुधा निर्बल से निर्बल व्यक्ति भी यह सोच कर सन्तोष करता है कि नहीं-नहीं, उसका भी संरक्षक कोई ईश्वर है। पर व्यवहार में उसका सन्तोष धोखा सिद्ध होता है। शक्तिशाली के हाथों निर्बल सताए जाते हैं। कर्म-फल का सिद्धान्त प्रतिपादित कर इसके समाधान का प्रयास किया जाता है। किन्तु कर्म-सिद्धान्त और उसकी शृङ्खला स्वयं में एक ऐसा गोरख धन्धा है, जिसका ओर-छोर नहीं दिखाई देता। बहुधा इस सिद्धान्त को भी शक्तिशाली अपना अस्त्र बना लेता है और अपनी सत्ता व अत्याचार का समर्थन कर लेता है। तो क्या मनुष्य की आस्थाएँ, उसका विश्वास सब झूठा है? दर्शन इसका एक युक्तसंगत उत्तर देता है। ईश्वर है अवश्य, पर स्वयं में द्रष्टा, कूटस्थ और निष्क्रिय है। वृक्ष में व्यापक अग्नि की भाँति, जो होते हुए भी कोई प्रत्यक्ष सहायता नहीं कर पाती, जब तक घर्षण के द्वारा उसे व्यक्त न किया जाय। शक्ति के व्यक्तीकरण में रजोगुणी का आकर्षण है, अतः वह उसे व्यक्त भी करता है। किन्तु ब्रह्म के व्यक्तीकरण की न तो वह अपेक्षा रखता है और न वे साधन ही उनके पास हैं, जिससे वह उसे व्यक्त कर सके और न ब्रह्म उसे अपने किसी काम का जान ही पड़ता है। यही वह क्षेत्र है, जहाँ सत्वगुणी उसे परास्त करके आगे बढ़ सकता है। यह स्पष्ट है कि उसके पास एक ही मार्ग रह जाता है कि वह ब्रह्म को प्रकट करे। उसके प्रकट होने पर स्वयं ही शक्ति उसकी सेवा में संलग्न हो जायगी क्योंकि शक्ति का अधिष्ठान तो ब्रह्म ही है। स्वयं उसकी सारी

सक्रियता ब्रह्म में ही निहित है। इस तरह शक्ति-ब्रह्म का यह सम्मिलन आसुरी शक्ति पर विजय का कारण बन जायगी।

केवल शक्ति संग्रह का मार्ग असुरी मार्ग है अतः भक्ति के द्वारा ब्रह्म का प्राकट्य ही शान्ति का सच्चा मार्ग है। जन हृदय में व्यापक ब्रह्म का अवतार ही इस समस्या का वास्तविक समाधान है। पर उसके लिए जिस साहस और आस्था की आवश्यकता है वह बहुत थोड़े लोगों में पायी जाती है। महाभारत युद्ध के प्रारम्भ में दुर्योधन और अर्जुन दोनों ही कृष्ण की सहायता प्राप्त करने के लिए उनको आमंत्रित करने जाते हैं। दुर्योधन पहले पहुँच जाता है क्योंकि वह अधिक सावधान था। उसे कृष्ण की पाण्डवों के प्रति सहानुभूति का तो पता था ही, अतः वह उन्हें नियम के बन्धन में बाँधना चाहता है कि उन्हें प्रथम निमंत्रण-दाता के पक्ष में युद्ध करना होगा। पर मायापति कृष्ण उस समय सो रहे थे। उनके शयन-कक्ष में शिर के पास रखे हुए आसन पर अहंकारी दुर्योधन आसीन हो जाता है और तब तक आ जाते हैं अर्जुन। प्रभु के श्रीचरणों की ओर बैठना उनके लिए स्वाभाविक ही था। और तत्काल भगवान की निद्रा टूटी। स्वभावतः अर्जुन पर पहले दृष्टि गई। समस्या जटिल थी। दुर्योधन प्रथम आया, प्रभु ने पहले अर्जुन को देखा। समाधान यों निकला। एक ओर निरस्त्र श्रीकृष्ण और दूसरी ओर एक अक्षौहिणी सेना। अर्जुन को पहले चुनाव का अवसर दिया गया। दुर्योधन व्याकुल हो उठा। अर्जुन ने सेना मांग ली, तो मैं क्या करूँगा निरस्त्र श्रीकृष्ण को लेकर? पर दूसरे ही क्षण वह अपने सौभाग्य पर मुस्करा उठा। अर्जुन ने सेना नहीं; श्री कृष्ण को, जो निरस्त्रता की प्रतिज्ञा में बँधे हुए हैं, माँग लिया। दुर्योधन प्रसन्नता में फूल उठा, सेना लेकर उत्साह से चल पड़ा। पर जब हिसाब लगा युद्ध के अन्त में, तब ज्ञात हुआ कि कौन सही था? नर में साहस था, विश्वास और आस्था थी, तभी वह नारायण को माँग सका। जो निष्क्रिय और निरस्त्र होते हुए भी सबसे अधिक सक्रिय है। पर उस समय अर्जुन की वह मांग कितनी अविवेकपूर्ण जान पड़ी होगी? क्या हममें अर्जुन की स्थिरता है, या हम दुर्योधन-वृत्ति से प्रेरित होते जा रहे हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है?

माना कि यह एक आदर्श की सी बात लगती है। पर सर्वनाश से रक्षा करनेवाला यही एक मार्ग हो भी सकता है। क्योंकि आज यह बात स्पष्ट है कि शक्ति संघर्ष में विजय-पराजय का प्रश्न नहीं, सर्वनाश का प्रश्न है। इस स्थिति में नारायण का अवतरण नर में नारायणत्व का आविर्भाव ही एकमात्र साधन है। यही भक्ति-मार्ग है।

ब्रह्म का अवतरण समाज में भी होता है और जीव के अन्तःकरण में भी। स्वयं ब्रह्म स्थूल रूप में अवतरित होता है, शरीर धारण करता है। ये दोनों मान्यताएँ भक्ति-सिद्धान्त में मान्य हैं। परन्तु दोनों मान्यताओं में कुछ अन्तर है। व्यक्ति के जीवन में नारायणत्व का आविर्भाव सम्भव तो है, पर ऐसे अनेक कारण हैं, जो उसे सीमित बना देते हैं। स्वयं शरीर उसमें से एक है, क्योंकि शरीर कर्म का परिणाम है और उसके साथ प्रारब्ध आदि के बन्धन लगे हुए हैं। अतः अवतार काल में ब्रह्म जो शरीर ग्रहण करता है, वह इन कर्म प्रारब्ध के बन्धनों से मुक्त होता है। स्वेच्छा से ही समग्र कार्य सम्पन्न करता रहता है। इसीलिए वह 'दिव्य' है। "निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार"।

बौद्धिक दृष्टि से इस सिद्धान्त का समझना, नर में नारायण के आविर्भाव के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक कठिन है। यद्यपि मानस में इस पक्ष पर अत्यधिक बल दिया गया है। विवादास्पद होने पर भी दोनों प्रकार के व्यक्तीकरण का मूल सिद्धान्त और उपाय एक ही है, अतः इस दृष्टि से मानस में व्यक्तीकरण की पद्धति से दोनों लाभ उठा सकते हैं।

इस 'अवतरण' के मूल में भी भगवान शिव ही हैं। वे ही देवताओं के समक्ष सशक्त शब्दों में इस सत्य का उद्घाटन करते हैं। रावण के अत्याचार से संत्रस्त होकर पृथ्वी ब्रह्मा के पास जाती है। मानसिक अर्थों में पृथ्वी का व्याकुल होना विशेष अर्थ रखता है। पृथ्वी का एक नाम क्षमा है, पर उसे रावण का अत्याचार असह्य हो जाता है। इसी प्रकार मानव मन में सहिष्णुता और क्षमा की जो भावना है, वह कभी-कभी ऐसा अनुभव करती है कि यह अक्षम्य है, अब सहा नहीं जाता। तब ब्रह्मा जो समष्टि बुद्धि के प्रतीक हैं, उनकी शरण ग्रहण करती है।

पर व्यक्तिगत और समष्टि दोनों ही जीवनों में ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं, जब बुद्धि भी अपने आपको असमर्थ अनुभव करती है। सारे सद्गुण (देवता) हार जाते हैं। और तब इस स्थिति से त्राण पाने के लिए उस तत्त्व की खोज होती है, जो सबका मूल कारण है। जो अविनाशी है। ब्रह्मा ने पृथ्वी से यही कहा—पृथ्वी की यात्रा और सबकी असमर्थता और ब्रह्मा के उत्तर को गोस्वामीजी ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में वर्णन किया।

धेनु रूप धरि हृदय बिचारी। गई तहां जहं सुर मुनि झारी।।
निज सन्ताप सुनाएसि जोई। काहू ते कछु काज न होई।।
सुर मुनि गन्धर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोका

गो तनु धारी भूमि बिचारी परम बिकल भय शोका
ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई
जाकर तें दासी सो अविनासी हमरेउ तोर सहाई
धरनि धरहि उर धीर, कह बिरंचि हरि पद सुमिरु।
जानत जन की पीर, प्रभु भंजिहि दारुण बिपति।।

पर वह अविनाशी सर्व कारण है कहाँ? उसको अपनी प्रार्थना कैसे सुनायी जाय? यह प्रश्न था उनके सामने। कहना न होगा कि यह प्रश्न सार्वकालिक है। "कहं पाइय प्रभु करिय पुकारा" बार-बार जन-जीवन में यह गूंज उठता है। उत्तर भी दिये जाते हैं, सबके अलग-अलग मत हैं। सभी अपनी भावना के अनुकूल उसे मानते हैं। उस समय भी भिन्न-भिन्न उत्तर मिले। विष्णु के दो रूपों की विशेष चर्चा होती है:—

पुर बैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई।।
जाके हृदय भगति जस प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा यह रीती।।

इस प्रसंग में विष्णु का नाम लिया जाना भी एक विशेष मनोवैज्ञानिक अर्थ रखता है। ब्रह्मा और शिव वहाँ उपस्थित हैं। विष्णु वहाँ नहीं हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, प्रत्यक्ष रूप में जीवन की तीन अवस्थाओं में तीन का ही दर्शन होता है। जागृत में बुद्धि, स्वप्न में मन, सुषुप्ति में अहं किन्तु जिसे चित्त (विष्णु) कहा जाता है, और उसे प्रत्यक्ष स्थूल स्थितियों में नहीं देख सकते, उसके लिए समाधि की अपेक्षा है। यहाँ पर भी विष्णु का प्रत्यक्ष न होना इसी सिद्धान्त की रक्षा की दृष्टि से है। यों तो ब्रह्मा, विष्णु और शिव त्रिदेव हैं, समान हैं, तत्वतः अभिन्न हैं। तीनों के लिए भगवान शब्द प्रयुक्त होता है, किन्तु विष्णु अधिक लोकप्रिय हैं। ब्रह्मा सृजन करते हैं, विष्णु पालन और शिव संहार। स्वाभाविक है कि पालक को अधिक यश और लोकप्रियता प्राप्त हो। उनकी रहस्यावृतता और सरलता से न दिखाई देना भी उनकी महत्ता-वृद्धि का कारण बन जाता है।

यहाँ क्षीर सागर और वैकुण्ठ के जिन दो निवास स्थानों का संकेत है, वे भी चित्त की समाधि-काल जन्य दो विशिष्ट स्थितियों का सूचक हैं। दुग्ध का विशाल समुद्र विष्णु का निवास स्थल है। यह दुग्ध वस्तुतः शुद्ध सत्व की स्थिति का सूचक है। समाधि में जिस समय तमोगुण और रजोगुण से शून्य चित्त शुद्ध सत्व की स्थिति में होता है, उस समय का जो अनुभव है, वही शेष-शैय्या स्थित भगवान विष्णु हैं। शेष, जिनके मस्तक पर सारा ब्रह्माण्ड स्थित है, उनका यहाँ दर्शन होता है। मानो यह सृष्टि के

मूल आधार की खोज है। आधार के मस्तक पर ब्रह्माण्ड और हृदय में विष्णु हैं। इस गुरुतर बोझ से वे दब नहीं जाते, उसका कारण यही हृदयस्थ विष्णु हैं। जिनके हृदय में भगवान हैं, उनके लिए समस्त ब्रह्माण्ड का बोझ उठाना भी सरल है।

वैकुण्ठलोक ऊर्ध्वाकाश में स्थित है, ऐसी कल्पना की जाती है। यह आकाश चित्त की शून्य स्थिति का, जिसमें सत्व का भी अभाव हो जाता है, सूचक है। यह वह लोक है, जहाँ मुक्त जीव निवास करते हैं। क्षीर सागर चित्त की सविकल्प समाधि का सूचक है। वैकुण्ठ निर्विकल्प समाधि का। समाधि का निर्विकल्प हो जाना मुक्ति का सूचक है। अतः वैकुण्ठ की संगति इससे मिल जाती है। यह नारायण वैकुण्ठाधिपति का धाम है। जहाँ रहनेवाले सभी नारायण-रूप में ही रहते हैं। यह भी निर्विकल्प समाधि के आत्म-साक्षात्कार और ब्रह्मात्मैक्य बोध का सूचक है। पर शिव इससे भी विलक्षण सत्य का संकेत करते हैं।

भगवान शिव इस विवाद में हस्तक्षेप करते हुए न तो क्षीर सागर का समर्थन करते हैं न ही वैकुण्ठ का। यहाँ गोस्वामीजी ने ऐसी परिस्थिति में पौराणिक पद्धति से भिन्न पद्धति का आश्रय लिया है। पुराणों के अनुसार ऐसी स्थिति में देवता क्षीर सागर में जाकर विष्णु से प्रार्थना करते हैं।

जगाम सत्रियनं क्षीर-स्तीर पयोनिधे

पर यहाँ शंकर धाम की पद्धति को अस्वीकार कर देते हैं। अपितु देवताओं से प्रश्न कर देते हैं। भगवान कहाँ नहीं हैं?

देस काल दिसि विदिसहुं माहीं। कहहु सो कहां जहां प्रभु नाहीं॥

यहाँ जिस नवीन पद्धति की चर्चा की गई उसका एक विशेष कारण है। किसी विशिष्ट लोक में विशिष्ट आकृति स्वीकार करने पर इस सिद्धान्त की सार्वजनिकता और सार्वकालिकता नष्ट हो जाती है। यदि विशिष्ट लोक में ही उनका निवास स्वीकार कर लें, तब वहाँ जाने की सामर्थ्य का प्रश्न उठ खड़ा होता है। वहाँ केवल विशिष्ट शक्ति के देवताओं के पहुँचने की ही संभावना हो सकती है। अतः वे सर्वसाधारण की पहुँच से बाहर हो जायेंगे और उनके लिए विशिष्ट काल के व्यक्तियों को सामीप्य देना ही संभव हो सकेगा। साथ ही लोक और आकृति विशेष विवाद का भी कारण बन जायगी। अतः मूल रूप में मानस उसे धाम, रूप, रहित स्वीकार करता है। इस तरह यह ब्रह्म सार्वदेशिक और आकृति विहीन होने से अत्यन्त सुलभ, विवाद रहित सिद्ध होगा। मानो इस सिद्धान्त में भी "सब कर हित" की भावना का ही ध्यान रखा गया है। यों मानस में

चार कल्पों की कथा का उल्लेख है। तीन का सांकेतिक और चौथे का विस्तार से। उनमें तीन कल्पों में क्षीरशायी विष्णु और नारायण का अवतार होता है, किन्तु चतुर्थ कल्प, जिसमें निर्गुण निराकार ब्रह्म राम रूप ग्रहण करता है, मानस में इसी कल्प की विस्तृत कथा है। ऊपर के संवाद में इसी ब्रह्म के अवतार की दिशा में भगवान शिव का वाक्य प्रेरणा देता है।

नाम रूप विहीन ब्रह्म में यह आकर्षण भी है कि भक्त स्वेच्छा से उसे अपनी रुचि के अनुकूल नाम रूप दे सकता है। अतः भगवान शंकर ब्रह्म की व्यापकता का संकेत करते हुए उसे व्यक्त करने की प्रेरणा देते हैं। क्योंकि उसकी व्यापकता और होने मात्र से किसी का कोई कार्य बननेवाला नहीं है। गोस्वामीजी ने निर्गुण ब्रह्म के सगुण होने की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए कहा—

व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनन्द रासी।।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।।

उसके हृदयस्थ होते हुए भी संसार में जो दुख, आधि-व्याधि का साम्राज्य है, उसे देखकर बहुतों को उसकी सत्ता में सन्देह होने लगता है। इतना निकट होकर भी जो हमारे दुख-सुख से प्रभावित नहीं होता, उसका होना हमारे किस काम का? ऐसी स्थिति में संशय स्वाभाविक है। इस संशय से उबारने की पद्धति विश्वास रूप भगवान शिव बताते हैं। 'है' पर उसे 'प्रकट' करना होगा और उसे प्रकट करने का साधन है प्रेम। 'प्रेम सहज' समाधि है। ब्रह्म का प्राकटच उसी के द्वारा होता है।

अग जग मय सब रहित विरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।।
हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।।

"मैं जाना" यह घोषणा जो निश्चयपूर्वक करते हैं वे हैं भगवान शिव। जिस साधन से प्रभु प्रकट होते हैं, वह अत्यन्त सुलभ है। पर अत्यन्त सुलभ होते हुए भी अत्यधिक कठिन जान पड़ता है। भगवान शिव की बात सब को भा गई। ब्रह्मा ने भी साधुवाद दिया। उसके पश्चात् ब्रह्मा स्तुति करते हैं और उनकी प्रार्थना के प्रत्युत्तर में आकाशवाणी होती है। यह सब कितना सरल है, किन्तु यहाँ तो नित्य न जाने कितनी स्तुतियों के पश्चात् भी प्रत्युत्तर मिलता नहीं दिखायी देता। क्यों? ब्रह्मा की स्तुति में क्या विलक्षणता थी? गोस्वामीजी ने निम्नलिखित शब्दों में इसका वर्णन किया—

सुनि बिरंचि मन पुलक तन, नयन नलिन भरि नीर।
अस्तुति करत जोरि कर, सावधान मतिधीर।।

ब्रह्म इस स्तुति की किन विलक्षणताओं से प्रभावित होता है, उसके लिए निम्नलिखित शब्द प्रयुक्त किये गये—

जानि सभय सुर भूमि सुनि, बचन समेत सनेह।
गगन गिरा गम्भीर भइ, हरन शोक सन्देह॥

वस्तुत : इन दोनों दोहों में ही साधना का समस्त तत्व निहित है।

भूमि और देवता सभय हैं। अवतरण के लिए प्रमुख प्रश्न यह है कि व्यक्ति के जीवन में उसके अवतरण की सच्ची आवश्यकता है? यह प्रश्न साधारण दृष्टि से अटपटा लगता है किन्तु व्यक्ति यदि आत्म-निरीक्षण करे तो उसके सामने यह आश्चर्यजनक सत्य उद्घाटित होगा कि वावजूद इसके कि हम भगवान को बहुधा पुकारा करते हैं, हमें उनकी कोई आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि आन्तरिक और वाह्य जीवन में दुर्गुणों के प्रति या वाह्य परिस्थितियों में जो बुराइयाँ पनपती हैं, उनके प्रति हमारे मन में उनको मिटाने की सच्ची भावना शायद ही कभी उत्पन्न होती हो। इनके प्रति हमारा विरोध या तो कोरा बौद्धिक होता है अथवा ईर्ष्याजनित। जिसके मूल में यह भावना कार्य करती रहती है कि स्वयं की अपेक्षा अन्य लोग अधिक लाभ उठा रहे हैं। अतः उनका विरोध धर्म और ईश्वर की आड़ में करना चाहिए। लूट में हिस्से का बँटवारा करने के लिए जैसे कोई डाकू धर्म और सत्य की दुहाई दे, ठीक वही मनोवृत्ति हम में से अधिकांश व्यक्तियों की होती है। इसीलिए चाहे कितने उच्च स्वर में लोग बुराई के विरुद्ध नारे लगावें, मौखिक रूप में उसकी आलोचना करें, पर उनका आन्तरिक मन स्वयं के चोर को समझता है और यही बुराई के न मिटने का सबसे बड़ा कारण है। देवता और पृथ्वी जब तक उस परिस्थिति को; जिसका निर्माण रावण के द्वारा हुआ था, सह्य समझते रहे, तब तक न तो उन्हें सच्ची आवश्यकता का बोध हुआ और न तो उन्होंने ब्रह्म को पुकारा।

उपरोक्त दोहे में दो शब्द ऐसे हैं जो भक्ति-साधना के प्राण हैं। 'जानि सभय' और 'बचन समेत सनेह'। भय और स्नेह के संपुट में ही भक्ति का रहस्य निहित है। भय साधना का प्रारम्भ है और स्नेह उसका पर्यवसान। पहले हम भय को ही लें। यद्यपि हम मानव-समाज में दो ऐसी भावनाओं का व्यापक प्रभाव देखते हैं, जिसके द्वारा वह परिचालित होता है। 'भय' और 'लोभ'। जाति, समाज, शासन, नरक आदि कुछ ऐसे भय हैं जिनमें किसी न किसी का भय मनुष्य को कुछ नियंत्रित रखता है। दूसरी ओर प्रशंसा, यश, धन-प्राप्ति की अभिलाषा से भी प्रेरित होकर

व्यक्ति श्रेष्ठ कार्यों में प्रवृत्त होता देखा जाता है। यद्यपि भय और लोभ की भावनाएँ ऐसी दोधारी तलवार हैं, जो दोनों दिशाओं में प्रहार कर सकती है। लोभ और भय की भावनाएँ मनुष्य को जहाँ एक ओर अच्छाई की दिशा में ले जाती हैं, वहीं वे बुराई को भी प्रेरणा देती हैं। कभी-कभी भय में रक्षा की भावना से भी व्यक्ति हिंसा असत्य आदि की दिशा में प्रवृत्त हो जाता है। जब ऐसा लगता है कि सामने वाला व्यक्ति मुझ पर प्रहार करने वाला है, तब कभी-कभी सन्देह से भयभीत होकर वह स्वयं प्रहार कर बैठता है। इसी तरह लोभ-वासना के वशीभूत होकर जब किसी सही मार्ग से इच्छा-पूर्ति की आशा नहीं देखता है, तब वह बुरे से बुरे उपायों के द्वारा भी उसे पाने की चेष्टा करता है। पर यह असंदिग्ध है कि प्रेरक रूप में यही दोनों भावनाएँ समाज को संचालित करती हैं।

किन्तु उन दोनों भावनाओं में भय की भावना अधिक प्रेरक और शक्तिशाली होती है। क्योंकि मनुष्य को सबसे अधिक जिस वस्तु की चिन्ता होती है, वह है स्वयं के अस्तित्व की। भय जिन कारणों से उत्पन्न होता है, उनमें अस्तित्व के समग्र रूप से मिट जाने की चिन्ता सर्वाधिक होती है। लोभ यद्यपि अधिक व्यापक रूप में दिखाई देता है, फिर भी भय जैसा चिन्ताजनक और आवेगमूलक वह नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ सत्ता मिटने की भावना नहीं होती।

इन दोनों ही भावनाओं से भक्ति में भी प्रवृत्ति देखी जाती है। पर ब्रह्म के अवतरण की तीव्र आकांक्षा के लिए भय की भावना अधिक सहायक है। विशेष रूप से जब भय बहुत तीव्र हो और कोई भी भौतिक साधन उसका निवारण करने में समर्थ न दिखायी देता हो, तब उस व्यक्ति या समाज में जो आर्तता आती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। किन्तु केवल भय की भावना मात्र से कोई भक्ति या भगवान की दिशा में प्रवृत्त नहीं हो जाता। भक्ति में प्रवृत्ति के लिए भय के साथ तीव्र विश्वास की भी आवश्यकता है। ईश्वर के अस्तित्व और भय निवारण की क्षमता पर विश्वास होने पर ही व्यक्ति भक्ति पथ पर आरूढ़ होता है। इस मनस्थिति को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) ऐसा भय जिसमें अस्तित्व के ही मिट जाने की आशंका हो।
(२) विश्व की कोई भी शक्ति इस भय से मुक्त नहीं कर सकती।
(३) भगवान हैं और वे निश्चित रूप से इस भय का विनाश कर सकते हैं।

इसको संक्षेप में हम भय, अनन्यता और विश्वास का नाम दे सकते हैं। इस तरह हम भय को भक्ति का श्रीगणेश मान सकते हैं। कभी-

कभी तो इस भावना का सृजन भी भक्ति के लिए करना पड़ता है। मानस में इसका एक बड़ा ही मार्मिक उदाहरण मिलता है सुग्रीव का चरित्र।

सुग्रीव तीव्र भय की भावना से ग्रस्त थे। बालि ने उनका सर्वस्व और पत्नी का हरण तो कर ही लिया था, वह उनके प्राण भी अपहरण कर लेना चाहता था। एक ही ऐसा स्थान था जहाँ बालि के आने की आशंका न थी, प्रवर्षण गिरि। पर उस पर्वत के निकट भगवान राम और लक्ष्मण को आया देखकर उनका सभीत अन्तःकरण आशंकाग्रस्त हो गया। "कहीं बालि ने तो इन तेजस्वी वीरों को मेरे वध के लिए नहीं भेजा है।" भागने की भावना आयी, फिर सोचा; पता तो लगा ही लूं, परिणाम-स्वरूप हनुमान जी जाते हैं और अन्त में सुग्रीव और राम मैत्री-सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं।

परिणाम होता है बालि का विनाश। सुग्रीव राजा हो गये। प्रभु ने राज्य चलाने की आज्ञा देते हुए अनुरोध किया—

अंगद सहित करेउ तुम राजू। सन्तत हृदय धरेहु मम काजू।।

"मेरे कार्य का स्मरण रखना" पर राज्योपभोग में निमग्न सुग्रीव कार्य को कौन कहे, राम को भी भूल गये। दिन पर दिन व्यतीत होते गये और इस तरह वर्षा-ऋतु के पश्चात् शरद का भी आगमन हो गया। पर सुग्रीव ने सुधि न ली। प्रभु ने लक्ष्मण से कहा, "जिस बाण से मैंने बालि का वध किया था, उसी बाण से मैं सुग्रीव का वध करूँगा। तेजस्वी लक्ष्मण कल की बात पर विश्वास नहीं करते। प्रभु से उन्होंने कहा, आज और अभी आज्ञा दीजिये। शंकर जी कथा-प्रसंग सुना रहे थे। यह चर्चा सुन पार्वती आश्चर्य में डूब गयीं। राम मित्र पर क्रुद्ध होकर उसे मारने को प्रस्तुत हो गये! भगवान शिव ने समझाया—

जासु कृपा टूटहिं मद मोहा। ता कंह उमा कि सपनेहु कोहा।।
जानहिं यह चरित्र मुनि ज्ञानी। जिन रघुनाथ चरण रति मानी।।

क्रोध का रहस्य क्या? प्रभु में बदले की भावना की कल्पना भी हास्यास्पद और अनुचित है। पर वे रोग के मूल कारण को पहिचान गये। सुग्रीव का विवेक और स्नेह इतना परिपक्व नहीं हुआ है कि वे उसकी प्रेरणा से कार्य कर सकें और भय की भावना मैंने मिटा दी। नहीं; नहीं, सुग्रीव का कल्याण करने के लिए, उनके हृदय में स्मृति लाने के लिए, अभी "भय" की आवश्यकता है। इसीलिए लक्ष्मण को समझाया। देखो, वध नहीं करना है। "भय" की सृष्टि करो, जिससे मेरा मित्र पुनः वापस आ जाय। यह भय सुग्रीव की चिकित्सा है।

तब अनुजहिं समझावा, रघुपति करुणा सींव।
भय देखाइ लै आवहु, तात सखा सुग्रीव।।

किन्तु यह कार्य दूसरी ओर सम्पन्न हो चुका था विश्वासावतार हनुमान जी द्वारा। उन्होंने भी सुग्रीव की त्रुटि देखी और समझाते हुए "भय" उत्पन्न किया। फल क्या हुआ—भय से ज्ञान उत्पन्न हुआ।

स्पष्ट है, 'भय' की भावना बड़ी मूल्यवान है यदि उसका सदुपयोग किया जा सके। भय की भावना समाज में व्यापक है। किन्तु भक्ति के लिए भय की भावना के साथ निराश्रयता का भी बोध होना चाहिए। जब तक भय निवारण के अन्य उपायों पर विश्वास है, तब तक भगवान की आवश्यकता का सच्चाई से अनुभव नहीं हो सकता। बहुधा भय के साथ जीवन में निष्ठाहीनता आ जाती है। एक रोगी तीव्र रोग से व्याकुल होकर जैसे थोड़े समय के अन्तर से विविध चिकित्सा पद्धतियों और अनेक चिकित्सकों का आश्रय लेता है। ऐसी ही मनोवृत्ति भय ग्रस्त प्राणी की भी होती है। इसलिए यदि भय की भावना के साथ हम अन्य उपाय करके उनकी व्यर्थता का ज्ञान प्राप्त कर लें उस स्थिति में निराश्रयता और परिणाम स्वरूप एक आश्रयता की वृत्ति आवेगी। कई अवसरों पर अत्यधिक संकट के साथ लोगों की उपेक्षा इसी दृष्टि से मूल्यवान सिद्ध होती है कि इससे व्यक्ति को स्थिति की वास्तविकता का पता शीघ्र लग जाता है। भक्त कवियों द्वारा संसार की स्वार्थमयता का चित्रण द्वेष की सृष्टि के लिए नहीं किया गया है। क्योंकि संसार स्वार्थी है, यह जानकर घृणा और द्वेष वही कर सकता है, जो स्वयं को निस्वार्थ समझ रहा हो। यदि इस प्रकार की निस्वार्थता का ध्यान से वह निरीक्षण करे तो यह स्पष्ट हो जायगा कि द्वेष और घृणा भी यही सूचित करती है कि वह समाज या लोगों से प्रतिदान चाहता है, अतः स्वयं भी वह निस्वार्थ नहीं है। स्वयं निस्वार्थ न होने पर हमें दूसरे स्वार्थियों से द्वेष और घृणा का कोई अधिकार नहीं रह जाता है। तब इस चित्रण का अभिप्राय है निराश्रयता का ज्ञान होकर भगवदाश्रयता का उदय होना।

किन्तु केवल निराश्रयता का बोध ही यथेष्ट नहीं है, अपितु सच तो यह है कि केवल निराश्रयता का बोध मनुष्य को अत्यधिक निराश बना कर आत्म-हत्या जैसी भावना को प्रोत्साहन दे सकता है। समाज में ऐसी घटनाएँ होती ही रहती हैं, जहाँ व्यक्ति चारों ओर से निराश होकर मरण का वरण कर लेता है। यह भय की भावना का भीषणतम रूप है जब व्यक्ति स्वयं अपने अस्तित्व को अपने हाथों मिटा दे। स्पष्ट है कि उसे स्वयं के

अस्तित्व का उससे भी बुरी तरह दूसरों के हाथों मिटने की आशंका होती है। अतः वह स्वयं शीघ्रता से उसे मिटा देने की चेष्टा करता है। यहाँ अस्तित्व शब्द का बड़े व्यापक अर्थों में प्रयोग किया गया है। बहुधा स्वयं के अस्तित्व के रूप में पृथक पृथक व्यक्तियों के मन में अलग-अलग कल्पनाएँ होती हैं। कुछ की दृष्टि में उनका अस्तित्व उनके सम्मान या धन पर निर्भर है। उनके लिए धन या मान विहीन अस्तित्व अस्तित्व ही नहीं है। अतः वे इसे अपने हाथों ही मिटा देना चाहते हैं। इस तरह यह कहा जा सकता है कि भय और निराश्रयता की यह भावना संसार में सब से अधिक अनिष्टकारी सिद्ध हो सकती है, यदि उसका उचित दिशा में विकास और सदुपयोग न किया जाय।

भक्ति में जिस 'दैन्य' और 'नैराश्य' का चित्रण किया जाता है, उसकी बहुधा बुद्धिवादी समालोचकों ने बड़ी तीव्र आलोचना की है। क्योंकि समाज या व्यक्ति के जीवन में उत्पन्न होने वाली भय-दैन्य और नैराश्य की भावनाओं का दुष्परिणाम वे जानते हैं। इसीलिए कई बार कहा जाता है कि भक्ति ने लोगों को दुर्बल और पलायनवादी बना दिया है। वाह्य दृष्टि से यह आलोचना बहुत उपयुक्त जान पड़ती है, किन्तु अन्तरंग रूप में भक्ति के स्वरूप पर विचार करते ही इस आलोचना की कमी ज्ञात हो जाती है। सचमुच ही यदि भक्तों ने केवल 'नैराश्य' या 'दैन्य' का ही विवरण किया होता तो उनका समाज के प्रति यह अक्षम्य अपराध होता। कल्पना करें कि कोई विपत्ति राष्ट्र या समाज पर आने वाली है। सरकार उस विपत्ति या रोग की भयावहता का प्रचार कर दे, पर उससे बचने के उपाय न बतावे, तो यह एक बुरी चीज होगी। उसका यह तो कर्त्तव्य है कि वह वास्तविकता को लोगों के सामने रखे, पर साथ ही उस विपत्ति में क्या करना चाहिए, इसका भी निर्देश दे। वास्तविकता को छिपाना भी एक अपराध होगा।

भक्तों ने क्या किया? उन्होंने स्वार्थ और भय का चित्रण करके केवल समाज को आतंकित और निराश ही नहीं किया, अपितु उसके स्थान पर 'विश्वास' का शंखनाद करके उनके हृदय में आशा और विश्वास का जागरण करा दिया।

निराश्रयता वह क्षेत्र है, जिसमें विश्वास का बीज वपन करने पर भगवत् कृपा अंकुरित हो उठती है। इस प्रसंग में एक आक्षेप की चर्चा और कर दी जाय, वह यह कि 'भक्ति के द्वारा आलस्य का पोषण कहा जा सकता है।' यदि यह मान भी लें कि भक्त निराशा के स्थान पर भगद्विश्वास को

महत्व देता है तो इसके द्वारा समाज में अकर्मण्यता बढ़ेगी। क्योंकि भगवान ही जब सब कुछ करेंगे तो हमें कुछ करने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है।

संभव है कुछ भक्त नामधारी अकर्मण्यों को देख कर इस धारण की पुष्टि होती हो और समाज पर भी इसका कुप्रभाव पड़ता हो, पर इसमें सिद्धान्त का क्या दोष ? प्रत्येक सिद्धान्त का इस प्रकार दुरुपयोग करने वाले लोग रहेंगे ही, उसे किसी प्रकार से रोका नहीं जा सकता है। देखना यह है कि सिद्धान्त में ही इस प्रकार की कमी है क्या ? साथ ही यह भी कम महत्व की वात न होगी कि भक्ति-सिद्धान्तों को जिन महापुरुषों ने स्वयं के जीवन में क्रियान्वित किया है, उनका चरित्र किस वात की साक्ष्य दे रहा है। स्पष्ट है कि जिन भक्तों का चरित्र पुराण, मानस आदि में वर्णित है, वे इतने अधिक कर्त्तव्य परायण हैं कि वहाँ अकर्मण्यता, आलस्य का लेश भी नहीं है।

इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य पर लोगों का ध्यान नहीं जाता कि अपने समग्र पुरुषार्थ भर प्रयास किए विना किसी में निराश्रयता और भगवान की आवश्यकता का सच्चे अर्थ में वोध कैसे होगा ? क्योंकि जब निराश्रयता की वात कही जाती है, तब उसमें केवल संसार ही नहीं; स्वयं की बल-बुद्धि की समाप्ति के पश्चात् की ही वात कही जाती है और स्वयं के पुरुषार्थ की सीमा ही इसका वास्तविक निर्णय करा सकती है। मानस में यह तथ्य बार बार भिन्न भिन्न चरित्रों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। यहाँ एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा। भय-संत्रस्त सुग्रीव की रक्षा के लिए प्रभु वालि वध की प्रतिज्ञा करते हैं।

सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं, बालिहि एकहि बान।
ब्रह्म रुद्र शरणागतहुं, गए न उबरिहिं प्रान।।

किन्तु बालि के बल से आतंकित सुग्रीव इस प्रतिज्ञा से आश्वस्त नहीं हो पाते हैं, उन्हें सन्देह होता है, क्या बालि का वध एक बाण से कर सकना संभव है ? इस संशय को वे प्रगट भी कर देते हैं। प्रभु ने पूछा, विश्वास का उपाय ? दुन्दुभि राक्षस की हड्डियाँ और सप्त ताल वृक्ष कसौटी बनाए गए। प्रभु ने क्षण मात्र में अस्थियों को दूर फेंक कर ताल एक ही बाण से वेध दिया। सुग्रीव को विश्वास हो गया।

सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि घटब काज मैं तोरे।।
कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। बालि महाबल अति रन धीरा।।

दुन्दुभि अस्थिताल दिखराए। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए।।
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन भइ परतीती।।

उपरोक्त पंक्तियों में इसी परीक्षा का चित्रण है। पर इसके पश्चात् भी प्रभु सुग्रीव को ही युद्ध करने के लिए प्रस्तुत करते हैं, क्यों? वस्तुतः इसके दो कारण हैं, अवशिष्ट पुरुषार्थ का समग्र उपयोग और पूरी तरह निराश्रयता के बोध का उदय। सुग्रीव ने भी इसे स्वीकार कर लिया। कारण स्पष्ट है। यद्यपि वे बालि की तुलना में अल्प बलशाली हैं किन्तु इस समय परिस्थिति बदली हुई है। प्रतिज्ञा-बद्ध राघवेन्द्र उनके साथ हैं, अतः वे मृत्यु भय से सुरक्षित हैं। ऐसी परिस्थिति में उनके हृदय में यह प्रलोभन आना स्वाभाविक था कि संभव है आज बालि को मैं स्वयं के बल से ही परास्त कर सकूं। अतः वे बालि को युद्ध के लिए चुनौती देते हैं। युद्ध में सुग्रीव परास्त हो जाते हैं। व्याकुल होकर वे प्रभु के पास जाते हैं। राघवेन्द्र ने कहा "तुम दोनों भाइयों के सादृश्य से मुझे धोखा हुआ" पर यह तो वाह्य कारण है। अभी निराश्रयता की स्थिति नहीं आई। भगवान राम ने प्रस्ताव किया। अच्छा; मैं तुम्हें और भी बल प्रदान करता हूँ। सुग्रीव पुनः युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। पूर्व मनस्थिति और भी आशावादी हो जाती है। अब स्वयं के बल के साथ राम का भी किंचित् बल प्राप्त है। 'यदि मैं स्वयं परास्त कर सका तो पूर्व पराजयों और कायरता की सारी कालिमा धुल जायगी" यही भावना उनके हृदय में उस समय कार्य कर रही थी। प्रभु की दी हुई माला और बल से युक्त होकर वे पुनः बालि से युद्ध रत हो जाते हैं। किन्तु इस बार की पराजय ने मनस्थिति को सर्वथा परिवर्तित कर दिया। क्योंकि इस बार उन्हें मृत्यु स्पष्ट रूप से सामने दीख रही है। स्वयं के बुद्धि-बल की महत्ता के अवशिष्ट संस्कार जाते रहे। पूर्ण निराश्रयता का उदय हुआ। तब प्राप्त हुई प्रभु की सहायता। प्रभु का बाण बालि को गिरा देता है।

बहु छल बल सुग्रीव करि, हिय हारा भय मानि।
मारा बालिहिं राम तब, हृदय मांझ सर तानि।।

इससे स्पष्ट है कि यद्यपि भक्त निराश्रयता और दैन्य को बहुत महत्व देता है पर उसका उदय अकर्मण्यता में होना संभव नहीं है। पूर्ण पुरुषार्थ के पश्चात ही वह भय और निराश्रयता आती है; जिसमें भगवान के सहायता की अपेक्षा होती है, यह सुग्रीव के चरित्र से स्पष्ट है।

इस तरह के विचारों में यह स्पष्ट हो चुका है कि भक्ति का श्रीगणेश भय की भावना से होता है। भय के साथ विश्वास की आवश्यकता भी

स्पष्ट हो जाती है। पर क्या इसका अर्थ यह है कि भय उसकी नींव है? नहीं; ऐसा नहीं, क्योंकि भय-जनित विश्वास असमर्थता और लाचारी का सूचक भी हो सकता है। अतः भय, प्रेरक शक्ति होते हुए भी भक्ति का प्राण नहीं बन सकता। यों कह सकते हैं कि भय के बाद जो विश्वास उत्पन्न होता है, वह अन्तःकरण में स्नेह का सृजन करता है। अतः स्नेह का पूरी तरह से विकास हो जाने तक, भय की भावना का बहुत महत्व होने पर भी, स्नेह का उदय होते ही आधार का स्थान स्नेह ले लेता है क्योंकि केवल भय जनित विश्वास उस समय शिथिल पड़ सकता है, जब भय के कारणों का निवारण हो जाये। जिसकी हल्की झलक सुग्रीव के चरित्र में मिलती है। यद्यपि वहाँ भी स्नेह का उदय हो चुका था। हाँ, काम और विषय—परांयणता के आकर्षण में वह कुछ सुषुप्त हो गया था। अतः वहाँ भी पुनर्भय केवल निद्रा से उठाने के लिए है। पर यह स्पष्ट है कि स्नेह के पूर्ण विकास के अभाव में विश्वास की शिथिलता का भय बना ही रहेगा। स्नेह की प्रक्रिया कुछ इस रूप में चलती है। भय से संत्रस्त व्यक्ति यद्यपि तत्काल भय से ही त्राण चाहता है; फिर भी वह त्राण के लिए जिनके निकट जाता है, उनके स्वभाव, गुण आदि को जानने की जिज्ञासा होती है। अतः उसके स्वभाव गुण के श्रवण से हृदय में उसके प्रति स्नेहमय रसात्मकता का उदय तो होता ही है। बाद में आर्तित्राण के बाद कृतज्ञता की भावना से उसमें स्नेह को और भी बल प्राप्त होता है। फिर तो स्नेह इतना व्यापक हो जाता है कि किसी भी भय लोभ के बिना ही वह भजन सेवा में संलग्न रहता है।

इस तरह स्नेह, ज्ञान और विश्वास एक दूसरे से जुड़ हुए हैं। संस्कृत में स्नेह शब्द तेल और घृत के लिए भी प्रयुक्त होता है। तेल के मर्दन से शरीर में रुक्षता के स्थान पर चिक्कणता आ जाती है। ऐसी चिक्कणता यदि कोई तेल की तुलना में जल से लाना चाहे तो उसको असफलता ही हाथ लगेगी। यद्यपि जल भी तेल के समान द्रव है, पर उसमें और उसकी चिक्कणता में स्थायित्व नहीं। एक ओर से लगाते जायें दूसरी ओर से वह सूखता जायगा। इस स्नेह की तुलना भक्ति प्रतिपादित स्नेह से की जा सकती है। मानस के उत्तर काण्ड में इस क्रम का बड़े भावपूर्ण शब्दों में वर्णन किया गया!

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।

जैसे जल की चिक्कणता क्षणिक होती है, उसी प्रकार स्नेह के अभाव

में केवल भक्ति भी क्षणिक ही होगी। कामना के जल से उसमें क्षणिक चिक्कणता आवेगी।

पर उस स्नेह का क्रम क्या है? विना जाने विश्वास नहीं होता और बिना विश्वास के प्रेम या स्नेह नहीं हो सकता। स्नेह के अभाव में भक्ति सुदृढ़ नहीं हो सकती।

स्नेह क्या है? इसका उत्तर देने के लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। आचार्यों ने प्रेम अनिर्वचनीय (अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूप) मानते हुए भी उसके विषय में बहुत अधिक लिखा है। यहाँ संक्षेप में मैं स्नेह के स्वरूप की चर्चा करूँगा। भक्ति रसामृत सिन्धु की परिभाषा संक्षिप्त और सुन्दर है।

सम्यंग सृणित स्वान्तो ममत्वातिशयांकितः
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते

जिसके द्वारा हृदय भली प्रकार कोमल और अतीव ममत्व से युक्त हो जाता है, उसी भाव को विद्वान 'प्रेम' कहते हैं।

व्यक्ति का हृदय प्रतिक्षण द्रवित और कठोर होता रहता है, क्योंकि सामने होने वाली प्रत्येक घटना से मनुष्य का हृदय प्रभावित होता है। अतः हृदय द्रवित होकर कुछ क्षण के लिए वही आकृति ग्रहण कर लेता है जैसी प्रभावोत्पादक घटना सामने होती है। पर उस आकृति में स्थायित्व नहीं होता। दूसरी भावना के आते ही प्रथम आकृति मिट कर नई आकृति का निर्माण हो जाता है। स्नेह-भाव के द्वारा जिस द्रवता का अन्तःकरण में संचार होता है, उसकी सबसे बड़ी विशेषता है उसका स्थायित्व। इसीलिए उसे उपरोक्त श्लोक में 'सम्यंगत सृणित' भली प्रकार कोमल शब्द से व्यक्त किया है। ऐसी कोमलता जो पुनः कठोरता में परिर्वातत न हो सके।

दूसरा शब्द भी बड़े महत्व का है। ममता भी मानव स्वभाव का मुख्य अंग है। कुछ व्यक्तियों और वस्तुओं को अपना मान कर 'मेरा' कह कर व्यक्ति को गर्व मिश्रित आत्म सन्तोष मिलता है। यही ममत्व की भावना जब किसी के प्रति अतिशय-मात्रा में हो जाती है, तब उसे भक्ति कहते हैं। यहाँ अतिशय का अभिप्राय है सर्वत्र से सिमट कर एक स्थान में आ जाना। जैसा विभीषण को प्रभु ने निर्देश दिया!

जननी जनक बन्धु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥
सब कर ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बांधि बटि डोरी॥

'ममता के बिखरे हुए धागों को एकत्र कर मेरे चरणों में बाँधो!' इसी को श्लोक में 'ममत्वातिशय' कहा गया है। द्रवित हृदय जब किसी

एक के प्रति अर्पित हो जाता है तब उसे प्रेम कह सकते हैं। यद्यपि यह तो माना जाता है कि वह स्नेह कहीं भी हो सकता है, किन्तु संसार में बहुधा स्नेहाभास ही हो पाता है; स्नेह नहीं। भगवत् सम्बन्ध में यह सरल है। संसार में भाव का आलम्बन इतना अस्थिर और अनित्य होता है कि भाव की एकरसता असंभवप्राय है। वहाँ व्यक्ति को स्वयं में ही पूरी तरह प्रयास करना होगा। भगवान की स्वयं की नित्यता और एकरसता इस भावना में सहायक है।

मानस रोगों का विनाश

ब्रह्मा की वाणी से देवताओं का भय और स्नेह दोनों ही अभिव्यक्त हो रहा था। यहाँ ब्रह्मा के द्वारा की गई प्रार्थना और उसमें स्नेह का सामंजस्य एक विशेष संकेत देने वाला है। ब्रह्मा को समष्टि बुद्धि का प्रतीक माना जाता है। स्नेह मन का धर्म है। चाहे वह व्यक्तिगत जीवन हो किंवा सामाजिक, जब तक किसी भी दिशा में मन बुद्धि का सम्मिलित सहयोग प्राप्त नहीं होता, सफलता नहीं मिलती। अधिकतर यदि दुखी लोगों की मनस्थिति का निरीक्षण करें तो उसमें मन और बुद्धि के इस अन्तर्द्वन्द्व का दर्शन होगा। मन अभ्यास के अनुकूल प्रिय लगने वाली वस्तुओं की ओर जाना चाहता है, तो बुद्धि जिन्हें श्रेष्ठ समझती है, उसे पाने, उस तक पहुँचने की प्रेरणा देती है। परिणाम क्या होता है? इन दो प्रकार के खिचावों में पूरी तरह वह किसी भी दिशा में नहीं बढ़ पाता। भगवत् प्राप्ति के लिए तो यह और भी अपेक्षित है कि हमारी बुद्धि, मन, समग्र जीवन एक ही उद्देश्य के लिए सचेष्ट हों।

आन्तरिक विश्वास से प्रेरित होकर जहाँ हमारी मन-बुद्धि एक ही लक्ष्य, प्रभु के अवतरण के लिए सचेष्ट हो जाती है, वहाँ सफलता अवश्यम्भावी है। जैसा कि इस प्रसंग में स्पष्ट है।

मानव जीवन की अशान्ति के कारण के रूप में गोस्वामीजी ने मानस रोगों का वर्णन किया है। जैसे रोग-ग्रस्त व्यक्ति सारी भोग सामग्रियों के बीच भी अपने को अशान्त अनुभव करता है। उसी तरह जब मन अस्वस्थ होता है, तब समस्त वैभव और विषय भी व्यक्ति को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। इस दृष्टान्त में गोस्वामीजी ने दुर्गुणों को रोग के रूप में चित्रित किया है। आयुर्वेद में रोग की उत्पत्ति का सम्बन्ध त्रिदोष कफ, वात, पित्त से माना जाता है। गोस्वामीजी ने उसी पद्धति का मानस-रोग

के रूप में भी चित्रण किया है। मन के त्रिदोष हैं काम, क्रोध और लोभ। पूरा चित्रण बड़ा गम्भीर और तथ्यपूर्ण है :—

काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करइ जो तीनिउ भाई। उपजइ सन्निपात दुखदाई॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नहरुआ॥
तृष्णा उदर बृद्धि अति भारी। त्रिविध ईषणा तरुण तिजारी॥
पर सुख देखि जरनि सोइ हुई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥
ममता दुइ कण्ठ इरषाई। हरष विषाद गरह बहुताई॥
ज्वर जुग विधि मत्सर अविवेका। कहं लगि कहौं कुरोग अनेका॥
एक ब्याधि बस नर मरहिं, ए असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं सन्तन जीव कहं, सो किमि लहइ समाधि॥

मानस रोगों के विस्तृत विवेचन के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की अपेक्षा है। यहाँ तो गोस्वामीजी ने रोग विनाश के लिए जिस चिकित्सा-पद्धति का वर्णन किया है, उसका संक्षिप्त परिचय देना अभीष्ट है। पहले तो उन्होंने विविध औषधियों का वर्णन किया है, जिनका धर्मशास्त्रों में विस्तृत निरूपण है।

नेम धर्म आचार जप, जोग जज्ञ ब्रत दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं, रोग जाहिं हरिजान॥

औषधियों के रूप में ही शास्त्रों ने इनका वर्णन किया है क्योंकि शास्त्रों का लक्ष्य भी मानवीय दुर्गुणों का विनाश ही है। किन्तु क्या ये औषधियाँ रोगों का पूरी तरह विनाश करने में समर्थ हैं? गोस्वामीजी इसका नकारात्मक उत्तर देते हैं। विचार करने पर उनका 'नहिं रोग जाहिं हरिजान' सर्वथा युक्तसंगत जान पड़ता है। कारण के रूप में दो बातें सामने आती हैं।

शारीरिक रोगों से भिन्न और उलझी हुई समस्या का सामना मानस रोग में करना पड़ता है। शारीरिक रोगों में बहुधा एक दो रोग ही एक साथ आक्रमण करते हैं। वहाँ भी एक रोग होने पर उसकी चिकित्सा सरल होती है। किन्तु मानस रोगों में अनेक रोगों का आक्रमण एक साथ देखा जाता है। सच तो यह है कि ऊपर वर्णित सभी रोग एक साथ प्रत्येक व्यक्ति के मन में पाये जाते हैं। गोस्वामीजी तो कहते हैं कि रोग होने न होने का पता लगाने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वह तो सुनिश्चित रूप से है ही। यह तो अवसर की बात है कि किस समय कौन सा रोग उमड़ कर सामने आ जाता है। उनका दावा है :—

एक के प्रति अर्पित हो जाता है तब उसे प्रेम कह सकते हैं। यद्यपि यह तो माना जाता है कि वह स्नेह कहीं भी हो सकता है, किन्तु संसार में बहुधा स्नेहाभास ही हो पाता है; स्नेह नहीं। भगवत् सम्बन्ध में यह सरल है। संसार में भाव का आलम्वन इतना अस्थिर और अनित्य होता है कि भाव की एकरसता असंभवप्राय है। वहाँ व्यक्ति को स्वयं में ही पूरी तरह प्रयास करना होगा। भगवान की स्वयं की नित्यता और एकरसता इस भावना में सहायक है।

मानस रोगों का विनाश

ब्रह्मा की वाणी से देवताओं का भय और स्नेह दोनों ही अभिव्यक्त हो रहा था। यहाँ ब्रह्मा के द्वारा की गई प्रार्थना और उसमें स्नेह का सामंजस्य एक विशेष संकेत देने वाला है। ब्रह्मा को समष्टि बुद्धि का प्रतीक माना जाता है। स्नेह मन का धर्म है। चाहे वह व्यक्तिगत जीवन हो किंवा सामाजिक, जब तक किसी भी दिशा में मन बुद्धि का सम्मिलित सहयोग प्राप्त नहीं होता, सफलता नहीं मिलती। अधिकतर यदि दुखी लोगों की मनस्थिति का निरीक्षण करें तो उसमें मन और बुद्धि के इस अन्तर्द्वन्द्व का दर्शन होगा। मन अभ्यास के अनुकूल प्रिय लगने वाली वस्तुओं की ओर जाना चाहता है, तो बुद्धि जिन्हें श्रेष्ठ समझती है, उसे पाने, उस तक पहुँचने की प्रेरणा देती है। परिणाम क्या होता है ? इन दो प्रकार के खिचावों में पूरी तरह वह किसी भी दिशा में नहीं बढ़ पाता। भगवत् प्राप्ति के लिए तो यह और भी अपेक्षित है कि हमारी बुद्धि, मन, समग्र जीवन एक ही उदेश्य के लिए सचेष्ट हों।

आन्तरिक विश्वास से प्रेरित होकर जहाँ हमारी मन-बुद्धि एक ही लक्ष्य, प्रभु के अवतरण के लिए सचेष्ट हो जाती है, वहाँ सफलता अवश्यम्भावी है। जैसा कि इस प्रसंग में स्पष्ट है।

मानव जीवन की अशान्ति के कारण के रूप में गोस्वामीजी ने मानस रोगों का वर्णन किया है। जैसे रोग-ग्रस्त व्यक्ति सारी भोग सामग्रियों के बीच भी अपने को अशान्त अनुभव करता है। उसी तरह जब मन अस्वस्थ होता है, तब समस्त वैभव और विषय भी व्यक्ति को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। इस दृष्टान्त में गोस्वामीजी ने दुर्गुणों को रोग के रूप में चित्रित किया है। आयुर्वेद में रोग की उत्पत्ति का सम्बन्ध त्रिदोष कफ, वात, पित्त से माना जाता है। गोस्वामीजी ने उसी पद्धति का मानस-रोग

के रूप में भी चित्रण किया है। मन के त्रिदोष हैं काम, क्रोध और लोभ। पूरा चित्रण बड़ा गम्भीर और तथ्यपूर्ण है :—

काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।।
प्रीति करइ जो तीनिउ भाई। उपजइ सन्निपात दुखदाई।।
अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नहरुआ।।
तृष्णा उदर वृद्धि अति भारी। त्रिविध ईषणा तरुण तिजारी।।
पर सुख देखि जरनि सोइ हुई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।।
ममता दुइ कण्ठ इरषाई। हरष विषाद गरह बहुताई।।
ज्वर जुग विधि मत्सर अविवेका। कहं लगि कहौं कुरोग अनेका।।
एक ब्याधि बस नर मरहिं, ए असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं सन्तन जीव कहं, सो किमि लहइ समाधि।।

मानस रोगों के विस्तृत विवेचन के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की अपेक्षा है। यहाँ तो गोस्वामीजी ने रोग विनाश के लिए जिस चिकित्सा-पद्धति का वर्णन किया है, उसका संक्षिप्त परिचय देना अभीष्ट है। पहले तो उन्होंने विविध औषधियों का वर्णन किया है, जिनका धर्मशास्त्रों में विस्तृत निरूपण है।

नेम धर्म आचार जप, जोग जज्ञ ब्रत दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं, रोग जाहिं हरिजान।।

औषधियों के रूप में ही शास्त्रों ने इनका वर्णन किया है क्योंकि शास्त्रों का लक्ष्य भी मानवीय दुर्गुणों का विनाश ही है। किन्तु क्या ये औषधियाँ रोगों का पूरी तरह विनाश करने में समर्थ हैं? गोस्वामीजी इसका नकारात्मक उत्तर देते हैं। विचार करने पर उनका 'नहिं रोग जाहिं हरिजान' सर्वथा युक्तसंगत जान पड़ता है। कारण के रूप में दो बातें सामने आती हैं।

शारीरिक रोगों से भिन्न और उलझी हुई समस्या का सामना मानस रोग में करना पड़ता है। शारीरिक रोगों में बहुधा एक दो रोग ही एक साथ आक्रमण करते हैं। वहाँ भी एक रोग होने पर उसकी चिकित्सा सरल होती है। किन्तु मानस रोगों में अनेक रोगों का आक्रमण एक साथ देखा जाता है। सच तो यह है कि ऊपर वर्णित सभी रोग एक साथ प्रत्येक व्यक्ति के मन में पाये जाते हैं। गोस्वामीजी तो कहते हैं कि रोग होने न होने का पता लगाने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वह तो सुनिश्चित रूप से है ही। यह तो अवसर की बात है कि किस समय कौन सा रोग उमड़ कर सामने आ जाता है। उनका दावा है :—

मानस रोग कछुक मैं गाए। हैं सबके लखि विरलन पाए।।
विषय कुपथ्य पाय अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे।।
जाने ते छीजहिं कछु ,पापी। नाश न पावहिं जन परितापी।।

ग्रौषधि की जटिल समस्या यह है कि ग्रनेक रोगों का एक साथ ग्राक्रमण होने से जो ग्रौषधि एक रोग को नष्ट करती है, वही दूसरे रोग को वढ़ाने वाली हो जाती है। उदाहरण के लिए 'दान' को ही ले लें। 'दान' एक ग्रौषधि है, जिसकी महिमा का शास्त्र पुराणों में वर्णन भरा पड़ा है। कहा जाता है कि प्रजापति ब्रह्मा ने देव, दैत्य ग्रौर मनुष्यों द्वारा ग्रादेश माँगे जाने पर उन्हें 'द 'द' 'द' का उपदेश दिया था। दैत्य में हिंसा वृत्ति प्रखर होती है, ग्रतः उसके लिए 'द' का ग्रर्थ दया था। देवता भोग परायण हैं, ग्रतः उनके लिए 'द' में इन्द्रिय दमन का संकेत था ग्रौर मनुष्य की लोभी प्रवृत्ति पर ग्रंकुश रखने के लिए 'द' के द्वारा 'दान' का उपदेश ग्रौर ग्रादेश दिया था।

यह दृष्टान्त दान की महत्ता का सूचक होने के साथ-साथ यह भी स्पष्ट करता है कि दान का उद्देश्य है लोभ का विनाश। स्वाभाविक है कि लोभ का परित्याग किए बिना दान देना सम्भव न होगा। मानस-रोग के विनाश की दृष्टि से कह सकते हैं कि दान कफ वृद्धि का नाशक है। एक व्यक्ति को कफ वृद्धि के कारण कास या इस तरह के रोग हो जाते हैं किसी भी समय उसका ग्राक्रमण रोगी को वेचैन वना देता है। लोभ की स्थिति भी ठीक ऐसी ही है। लोभी व्यक्ति को दिन-रात चैन नहीं। दान देने से लोभ-वृत्ति का शमन होता है, किन्तु ग्रहंकार बढ़ जाता है। कफ उपशमित हुग्रा; तो उदर में डमरुग्रा रोग वढ़ गया। ग्रतः पहली समस्या तो यही है कि शास्त्रीय ग्रौषधियाँ एक-एक रोग का उपशमन करके दूसरे को वढ़ाने में कारण वन जाती हैं।

पर दूसरा प्रश्न भी है कि क्या ये ग्रौषधियाँ एक रोग का भी पूरी तरह विनाश कर सकती हैं? दुर्भाग्यवश इसका उत्तर भी नकारात्मक ही देना पड़ता है। क्या दान के द्वारा लोभ समाप्त हो जाता है? जिस समय दान दिया जाता है, उस समय ग्रवश्य लोभ-वृत्ति दब जाती है; किन्तु फिर दान देने के लिए धन चाहिए, ग्रतः पुनः लोभ। इस तरह दान लोभ का कभी न समाप्त होनेवाला चक्र प्रारम्भ हो जाता है ग्रौर दान की महत्ता बताने के लिए जिन महत्वपूर्ण फलों का वर्णन किया गया है, वे भी तो दूरगामी लोभ की ही वृत्ति को बढ़ावा देते हैं। ग्रतः यह स्पष्ट है कि ग्रौषधियाँ क्षणिक शान्ति को छोड़कर ग्रौर कुछ देने में ग्रसमर्थ हैं।

आवश्यकता है एक ऐसी औषधि की जो एक साथ समस्त रोगों पर प्रहार करके उनका समूलोच्छेद कर दे। मानस की दृष्टि में वह औषधि है 'भगवद्भक्ति'। किन्तु उस औषधि का अनुपान, सेवन-विधि और पथ्य की व्यवस्था तो आचार्य ही बता सकता है। सद्गुरु जो त्रिभुवन गुरु शिव का ही प्रतिनिधित्व करता है। पर वहाँ भी महत्वपूर्ण अनुबन्ध यही है कि उसके आन्तर रूप को हम स्वीकार करते हैं। अभिप्राय स्पष्ट है कि यदि हम सद्गुरु में 'विश्वास' स्थापित नहीं कर पाये, तो गुरु में शिव भावना नहीं वन पाई है और तब औषधि मिलने की संभावना नहीं है, चाहे उसे हम 'शंकर भगति बिना नर भगति न पावइ मोरि' कहें अथवा 'विनु विश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम' के रूप में स्वीकार करें। जहाँ शिव है, वहाँ शक्ति अवश्यम्भावी है, अतः विश्वास के साथ श्रद्धा का होना आवश्यक है। मानस रोग के प्रसंग में 'श्रद्धा' को अनुपान (दवा के साथ दी जानेवाली वस्तु) का रूप दिया गया है, जिसके अभाव में औषधि की शक्ति का ठीक उदय नहीं होगा।

सदगुरु बेद बचन विश्वासा। संजम यह न विषय की आशा।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।
एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाई। नाहित जतन कोटि नहिं जाई।।

भक्ति की चिकित्सा-पद्धति बड़ी स्पष्ट है। वहाँ लक्षणों की चिकित्सा नहीं की जाती। जहाँ अनेक रोग और उनके परस्पर विरोधी लक्षण हों वहाँ लक्षण के द्वारा रोग-निर्धारण और चिकित्सा सर्वथा असफल रहेगी। भक्ति-पद्धति में मूल कारण पर ही सारा ध्यान केन्द्रित रखते हैं।

मन रोगी क्यों है? साधारणतया शारीरिक रोगों में जैसा देखा जाता है कि सभी रोग व्यक्ति की भूलों के ही परिणाम होते हैं, वही स्थिति मानस रोगों की है। अपितु सत्य तो यह है कि मानसिक रोग पहले उत्पन्न होते हैं और उन्हीं की प्रतिक्रिया में शरीर भी रुग्ण हो जाता है। आगे यह बात स्पष्ट हो जायगी। मन की भूख-प्यास अत्यन्त प्रबल है। सभी इन्द्रियों के माध्यम से वह रस लेकर अपनी भूख-प्यास मिटाने की चेष्टा कर रहा है। इन्द्रियाँ थक जाती हैं, तो वह निद्रा में स्वप्न-लोक का निर्माण करके वहाँ तृप्ति का प्रयास करता है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुकूल तो स्वर्ग और नरक और पुनर्जन्म में मन की यह अतृप्ति ही कारण है। विषयों के अति सेवन से शरीर रुग्ण हो जाता है। दूसरी ओर मन की स्थिति और भी निराली है। इच्छित विषय की तीव्र कामना उत्पन्न होते ही 'काम वात' का उदय हो जाता है और उसका परिणाम दो रूपों में

सामने आता है। इच्छा पूर्ण होने पर लोभ रूप कफ का प्रावल्य और इच्छा-पूर्ति के अभाव में क्रोध रूप पित्त की प्रवलता। इस तरह त्रिदोष का क्रम सम्पन्न हो जाता है। फिर यही मानसिक क्रोध और लोभ के भाव ही अन्य विकारों के रूप में प्रकट होते हैं। दम्भ, कपट, मान, मद, अहंकार, तृष्णा ये सब लोभ शाखा के रोग हैं। या यों कह लें कि इनमें कुछ लोभ पूर्त्ति के सहायक रूप में (दम्भ कपट आदि) कुछ इच्छा पूर्ति के परिणाम (अहंकार, ममता और तृष्णा) रूप में जीवन में व्यक्त होते हैं। दूसरी ओर कुटिलता, मात्सर्य, दूसरे के सुख को देखकर जलन, यह क्रोध शाखा के ही विविध रूप और रोग हैं। इस तरह रोग सिमट कर मूल दो रूपों में दिखाई देते हैं और वे दो भी सिमट कर एक दिखाई देता है। विषय की तीव्र पिपासा उसे अतृप्ति या 'काम' कह लें। अतः यदि कामना पर प्रहार कर उसे नष्ट किया जा सके तव इनकी वंश-वृद्धि समाप्त हो जाती है।

भक्ति-शास्त्र कामना-निरोध में पूर्ण समर्थ है। सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि अन्य औषधियों का सेवन करने से मन विरोध करता है। ठीक उसी भाँति जैसे शारीरिक रोगी कड़वी औषधियों से घबराता है। किन्तु रोगी को यदि स्वादिष्ट औषधि मिले तो उसे उत्साह से ग्रहण कर लेता है। भक्ति की सजीवन-मूरि को ग्रहण करने में मन कोई विरोध नहीं कर सकता है। क्योंकि वह जिन विषयों से प्रेम करता है, भक्ति की औषधि में वाह्य रूप में सभी प्राप्त है। क्योंकि भक्ति के 'भगवान' में वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सभी विषय हैं, जिनके लिए मन व्यग्र रहता है।

किन्तु भक्ति की औषधि का क्या स्वरूप होगा? इसका निर्णय स्वयं रोगी को नहीं करना है। उसे तो वैद्य का चुनाव कर लेना चाहिए। रोगी अपनी इच्छा के अनुकूल चिकित्सक वुलाने में स्वतन्त्र है। रोगी बुद्धिमान हो सकता है, पर किसी वस्तु का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए वुद्धि की तीव्रता ही सब कुछ नहीं है। उसके लिए तो एक विषय का निष्ठा से शोध, उसका व्यावहारिक ज्ञान, प्रयोग, परीक्षण आदि अपेक्षित है। वही रोगी वुद्धिमान कहा जा सकता है, जो योग्य चिकित्सक का चुनाव करने के वाद स्वयं को पूरी तरह उसकी इच्छा पर छोड़ देता है। यदि चिकित्सक से तर्क-वितर्क करना चाहे तो यह उसका विवेक नहीं मूर्खता ही होगी। मानस रोगों में ठीक यही स्थिति है। पर दुर्भाग्यवश अहंवादी उसे 'अन्धविश्वास' का नाम देने का दुस्साहस करते हैं। वे आचार्य रूप चिकित्सक की कोई आवश्यकता नहीं समझते। उस पर अपने को

निर्भर करने को अन्धविश्वास समझ लेते हैं। वे प्रत्येक आदेश में क्यों लगाना चाहते हैं। यह क्यों? त्याज्य नहीं? पर इस जिज्ञासा का रहस्य जानने की परिपाटी क्या है? रोगी को रोग की स्थिति में औषधि तत्काल ग्रहण करनी चाहिए। क्योंकि सम्भव है उसकी जिज्ञासा का अजीर्ण उसे ही समाप्त कर दे। जीवन में विश्वास से डरने का क्या कारण है? एक ही उत्तर है, मनुष्य डरता है कि कहीं धोखा न खाना पड़े। कहीं लोगों की दृष्टि में मूर्ख न बनना पड़े। रोगी को चिन्ता हो सकती है कि कहीं प्रतिकूल औषधि से प्राण न धोना पड़े। पर यह स्थिति तो दोनों ओर है, औषधि के अभाव में भी मृत्यु अवश्यम्भावी है। तत्काल उसकी बुद्धि को सन्तुष्ट करना कठिन है क्योंकि रोग-शय्या पर पड़े हुए व्यक्ति को प्रयोग के द्वारा उसकी सचाई को दिखाया नहीं जा सकता। यदि उसे यह बता भी दिया जाय कि इस औषधि में इन-इन वनस्पतियों का मिश्रण है, तब भी उसे वनस्पति के गुण के विषय में भी विश्वास ही तो बनाना पड़ेगा। अतः चिकित्सक के (जो सद्‌गुरु है) ऊपर ही हम क्यों न निर्भर हो जावें।

सद्‌गुरु वैद्य पर 'विश्वास' करना अवश्यम्भावी है। बहुधा कहा जाता है कि विश्वास से धोखे की संभावना है। तथ्य कुछ दूसरा ही है। धोखे के दृष्टान्त के रूप में अनेक घटनाएँ सुनायी जाती हैं। पर उसे विश्वास का नाम, विश्वास का स्वरूप न समझने के कारण ही दिया जाता है। एक सज्जन ने 'विश्वास' करके अपने सारे नोट किसी 'महात्मा' को दूने करने के लिए दे दिये। 'महात्मा' जी नोट लेकर चलते बने। अब इसे विश्वास और धोखे का नाम देना विश्वास का अनादर करना है। यह या तो 'व्यापार' था या स्वयं दूसरे को ठगने की भावना। एक ऐसा व्यापार, जिसमें देखते-देखते द्रव्य दूना हो जाय। अब यदि उस मूर्खतापूर्ण व्यापार में घाटा हो गया तो, रोने और विश्वास को बुरा कहने की क्या आवश्यकता है? सच तो और भी कटु है। यह घटना तो दो ठगों के संघर्ष की कहानी है। एक व्यक्ति किसी 'महात्मा' नामधारी की दो-चार दिन शारीरिक सेवा करके सौ पचास रुपये खर्च करके लाखों रुपया उससे पा लेना चाहता है, यह ठगी नहीं तो क्या है? तब तो ठगों के संघर्ष में बुद्धिमान ठग का विजयी होना अवश्यम्भावी है।

इसी प्रकार की अन्य जितनी भी घटनाएँ होती हैं, उनका रहस्य यही होता है, चाहे वे काम मूलक हों या लोभमूलक। ऐसा एक भी दृष्टान्त नहीं मिला, जिसमें शुद्ध सात्विक रूप से भक्ति प्राप्ति के प्रयास से धोखा हुआ हो। घटनाओं के धोखेवाला अंश इस रूप में प्रचारित किया जाता

है, जिसे सुनने-पढ़नेवाला व्यक्ति इतना अधिक प्रभावित हो जाता है कि उसकी पृष्ठ-भूमि समझने का प्रयास नहीं करता। जैसे दो व्यक्तियों के झगड़े में जो व्यक्ति पिटा रहा है, दर्शकों की सहानुभूति उसी के प्रति हो जाती है। भले ही पहला प्रहार और झगड़े का सूत्रपात पिटानेवाले ने ही किया हो। क्योंकि भीड़ तो झगड़ा बढ़ जाने पर ही एकत्र होती है, उसे प्रारम्भ का ज्ञान तो होता नहीं। ठीक यही स्थिति इस प्रकार की घटनाओं में भी होती है। कारण है कि इस प्रकार की घटनाओं को सैकड़ों की संख्या में पढ़-सुनकर भी लोग सावधान नहीं होते और धोखा खाते रहते हैं। उसका रहस्य यही है कि मनुष्य में लोभ और कामना-पूर्ति की इतनी वलवती आकांक्षाएँ हैं कि उस स्थिति में सावधानी आ ही नहीं सकती। इस प्रकार की घटनाएँ ठगनेवाले व्यक्ति की ही नहीं; सारे समाज के मनोभाव का प्रतिविम्व हैं। ठगे जानेवाले व्यक्ति कौन होते हैं? जिनमें लोभ है, विना किसी प्रयास के उन्नति की आकांक्षा है, या जो अपराधी हैं, रिश्वतखोर हैं, जो इस भावना से महात्मा की खोज करता कि ऐसा आशीर्वाद मिले जिससे अपराध सिद्ध न हो। उनकी इस प्रकार की आकांक्षाओं से अनेक लोग लाभ उठाने की चर्चा करते हैं।

विश्वास में निष्कामता और समर्पण होता है। मानस में दो घटनाएँ प्रतिकूल रूप में इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं। दो नकली महात्माओं का चित्र मानस में आता है। जो ठगने की चेष्टा करते हैं। एक प्रयास में सफल होता है और दूसरा असफल। एक है कपट मुनि, जो प्रतापभानु को ठग लेता है। दूसरा है कालनेमि, जो हनुमानजी को धोखा देने में सफल नहीं होता। प्रतिकूल परिणाम क्यों? इसका उत्तर यही है, सकामता और निष्कामता। प्रतापभानु क्यों ठगा जाता है? विश्वास के कारण? नहीं, अपने छलपूर्ण व्यवहार के कारण। अपने हृदय में वह कितनी बड़ी आकांक्षाओं को संजोए हुए है, इसका पता तो कपट मुनि के समक्ष लगता है। उसके पहले तो वह अपने आचार्य और ऋषि-मुनियों के समक्ष सर्वदा निष्कामता ही प्रदर्शित करता रहता है। विविध यज्ञ उसने निष्कामता के संकल्प से ही किए, क्योंकि उसे यह सन्देह था कि जिस प्रकार की वस्तुएँ वह पाना चाहता है, वह यज्ञ से सम्भव नहीं। अतः क्यों न 'निष्काम' की प्रशंसनीय उपाधि प्राप्त की जाय? पर कपट मुनि के आश्वासन देते ही वह खुल पड़ता है।

जरा मरन दुख रहित तन, समर जितै जनि कोय।
एक क्षत्र रिपुहीन महि, राज कलप शत होय।।

और वह इसके लिए किसके साथ दुराव नहीं करता। उसे अपने पुरोहित के अपहरण में आपत्ति नहीं है। उसे ब्राह्मणों को भोजन द्वारा वशीकरण में आपत्ति की कौन कहे; स्वयं प्रार्थना करता है। किसी को नशा खिला कर अपने इच्छानुकूल चलाने की इच्छा में और इस प्रक्रिया में क्या अन्तर है ? उसकी निर्दोषिता केवल वहीं है, जहाँ तक ब्राह्मण-मांस भोजन मिश्रित करने का प्रश्न है। स्पष्ट है कि प्रतापभानु स्वंयं के ठगे जाने में कम अपराधी नहीं है। कपट मुनि के प्रति क्षणिक अन्धविश्वास उसके कामना का परिणाम था। क्योंकि वहाँ भी प्रारम्भ में उसने राजनीतिज्ञता का ही व्यवहार किया था। स्वयं को प्रतापभानु का मंत्री बताया था। महत्ता सुनकर उसके मन की कामनाओं ने जब उसे अन्धा बना दिया, तब वह विश्वास का नाटच रचता है। अतः प्रताप भानु के प्रति सहानुभूति होते हुए भी तथ्य देखते हुए उसकी स्थिति का कारण स्वयं वही सिद्ध होता है।

हनुमानजी को कालनेमि ठगने की चेष्टा करता है। हनुमानजी विश्वासावतार हैं, क्योंकि वे शिव के अवतार माने जाते हैं। एक ओर कपट और दूसरी ओर विश्वास। पर यहाँ कपट पराजित होता है, क्योंकि विश्वास निष्काम था। वह राम-कार्य का सम्पादन करने के लिए प्रस्तुत था। हनुमानजी मार्ग में साधु-वेश में बैठे हुए कालनेमि को देखते हैं और तृषातुर होकर जल की याचना करते हैं। राक्षस उन्हें राम-रावण के युद्ध का समाचार सुनाकर चमत्कृत करना चाहता है। स्वयं के ज्ञान-दृष्टि की प्रशंसा करता है। हनुमानजी को प्रलोभन भी देता है। मुझ से दीक्षा ग्रहण करने पर तुम्हें भी ज्ञान-दृष्टि प्राप्त हो जायगी।

सर मज्जन करि आतुर आवहु। दीक्षा देहुं ज्ञान जेहि पावहु।।

हनुमानजी के हृदय में इस प्रकार की कोई आकांक्षा नहीं है। वे जल पीने के लिए सरोवर में प्रविष्ट होते हैं। जल में शापित अप्सरा मकरी के रूप में निवास करती है।

यह मकरी मति की प्रतीक है, जो अपनी प्रगल्भता और धृष्टता के कारण मकरी बना दी जाती है। जीवन की आशा से जानेवालों को वह नीचे ले जाकर मृत्यु का ग्रास बना देती है। स्वच्छन्द मति की जीवन में यही स्थिति है। पर उसके उद्धार का मार्ग है विश्वास का पद ग्रहण। हनुमानजी प्रहार करके उसे शापित शरीर से मुक्त कर देते हैं। तब वही मति विश्वास की सेविका बनकर वास्तविकता के प्रति सचेत करती है।

सर पैठत कपि पद गहा, मकरी अति अकुलानि।

मारी सो धरि दिव्य तनु, चली गगन चढ़ि जान ।।
मुनि न होइ यह निसिचर घोरा । मानहु सत्य बचन कपि मोरा ।।

श्री हनुमानजी कालनेमि का स्वरूप जानकर उसे विनाश करने में सफलता प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वास्तविक विश्वास कभी नहीं ठगा जा सका, यह स्पष्ट है। भक्ति का स्वरूप व्यापक है, उसमें विभिन्न प्रकार की मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों के लिए साधन के पृथक्-पृथक् स्वरूप निर्धारित हैं। मानस विकृति में भी प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में किसी एक रोग का प्राधान्य रहता है। किसके लिए भक्ति को किस रूप में प्रारम्भ करना श्रेयस्कर होगा, इसका स्वयं निर्णय करना असम्भव कार्य है। इसे तो कोई अनुभवी तत्वज्ञ ही बता सकता है। साधक को भी हृदय में पूर्ण विश्वास लाने की चेष्टा करनी चाहिए। श्रद्धा-युक्त अन्तःकरण से जब आचार्य के बताये हुए मार्ग से साधक साधना करता है, तब क्रमिक रूप से जीवन के दुर्गुणों का नाश होकर शान्ति का संचार होता है।

बाह्य निर्माण के भौतिक प्रयत्नों के साथ-साथ आन्तर जीवन के निर्माण के लिए भी पूर्ण प्रयत्न की आवश्यकता है। अनेक प्राचीन मनीषियों ने इस दिशा में शोध कर जो दिव्य रत्न दिये हैं, समाज को उनका सदुपयोग करना चाहिए। विशेष रूप से मानस में तो मनुष्य-जाति की समस्त समस्याओं का समाधान कर देने की चेष्टा की गई है। पर आवश्यकता है उसके वास्तविक स्वरूप के प्रचार की। यथा साध्य इस दिशा में यह एक लघु प्रयास है।

मानस में शिव-तत्त्व का प्रतिपादन विश्वास के रूप में किया गया है। भक्ति की आधार-शिला विश्वास है। आज समाज में आस्था और विश्वास का अभाव है। विश्वास की प्रतिष्ठा भी विकृत रूप में है। मैंने मानस की दृष्टि में विश्वास का स्वरूप क्या है? यह बताने की चेष्टा प्रस्तुत पुस्तक में की है।

—:o:—

34173